योग
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

विभूति-योग

[भगवद्गीताके १०वें अध्यायके विवेचनात्मक प्रवचन]

अनन्तश्री

स्वामीअखण्डानन्द सरस्वती

परमपुरुष परमात्माका अनुग्रह है कि अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजद्वारा गीताके विभिन्न योगोंपर किये विवेचनात्मक प्रवचनोंके सन्दर्भमें उनका यह विभूति-योग-सम्बन्धी विस्तृत प्रवचन पुस्तकरूपमें विद्वानोंके भोगार्थ और जिज्ञासु साधकोंके मार्ग-दर्शनार्थ प्रस्तुत करनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। कर्म, उपासना और ज्ञानकी त्रिवेणी इस गीता-सरितामें राजविद्या-राजगुह्य उपासनाके प्रसंगमें उसके सौविध्यके लिए भगवान्‌की विभूतियोंका निरूपण १०वें अध्यायमें किया गया है।

इस विभूति-योगके वर्णनका फल भगवान्‌ने 'अविकम्प-योग' बताया है। पूज्य स्वामीजीने 'अविकम्प-योग'का जो मार्मिक विवेचन किया है, वह द्रष्टव्य है। श्रीशंकराचार्यने इसका अर्थ सम्यग्दर्शन किया है। ज्ञानेश्वरने 'असन्दिग्ध रूपसे युक्त' अर्थ किया है। लोकमान्य तिलकने 'विभूति'का अर्थ विस्तार और योगका अर्थ उसकी शक्ति किया है। योगी अरविन्द लिखते हैं कि योगकी वह स्थिति, जब मनुष्य उसमें पूर्ण सिद्ध, अनन्य-स्थिर हो जाता है।'

बीस प्रकरणोंके इस विभूति-योगमें पूज्य महाराजश्रीने तत्तत् विभूतियोंके ग्रहणका स्वारस्य और अनेक शास्त्रीय विषयोंकी चर्चा की है, जो जिज्ञासुओंके लिए उनकी बहुमूल्य देन है। एतदर्थ हम उनके चरणोंमें अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए पाठकोंके हाथ इसे सहर्ष प्रस्तुत करते हैं।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा : २०२९ वै०

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर
एम. ए., न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य

अनुक्रम

१. विभूति-योग

गीताका दसवाँ अध्याय विभूतियोग है। इस अध्यायमें दो बातें साथ-साथ चलती हैं—विभूति और योग। विभूतिका अर्थ है परमात्माका वैभव और योगका अर्थ है, उस परमात्मासे एकत्वके अनुभवका साधन।

यह दशम अध्याय बड़े महत्त्वका है। इसमें दो उपनिषदें हैं : 'विभूति-उपनिषद्' और 'योगोपनिषद्'। इनमें-से योग समझ जायँ तो समाधिमें और विभूति समझ जायँ तो व्यवहारमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। दोनों जगह परमात्मा मिल जाय तो उससे अविकम्प-योग हो जाय। कभी परमात्मासे वियोग ही न हो।

जो भगवान्‌की विभूतिको समझता है, उसे 'अविकम्प-योग'की प्राप्ति होती है। भगवान्‌ने कहा है :

> एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
> सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥
>
> —गीता १०.७

'मेरी इस विभूति और योगको जो तत्त्वतः जान लेता है, वह अविकम्प-योगसे युक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।' 'अविकम्प-योग'का अर्थ है, अविच्छिन्न योग अर्थात् परमात्मासे ऐसा मिलन जिसमें फिर कभी किसी भी प्रकारका वियोग न हो। इसके लिए भगवान्‌की विभूति और भगवान्‌के योगको जानना चाहिए।

गीताके दसवें अध्यायमें प्रारम्भसे योग और विभूतिका वर्णन है। भीतर अन्तर्यामी रूपसे स्थित भगवान् हमारे अन्तः-करणमें आध्यात्मिक भावोंको प्रकाशित कर रहे हैं और वे ही समूची सृष्टिमें व्यापक बनकर सृष्टिके आधिदैविक और आधि-भौतिक भावोंको प्रकाशित कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं:

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।—१०.५

'मुझसे ही प्राणियोंके विभिन्न भाव उत्पन्न होते हैं।'

वह (परमात्मा) ऐसा जादूगर है कि हमारे भीतर छिप बैठा है और बाहर दृश्य बना खड़ा है। वह कभी सूक्ष्म तो कभी स्थूल नये-नये भावोंको प्रकट करता रहता है। उसका जादू मत देखो, उस जादूगरको देखो। यह देखो कि वह भीतर बैठा क्या-क्या दे रहा है?

अर्जुनने अनुरोध किया दसवें अध्यायमें—

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥
—१०.१८

'जनार्दन! फिरसे अपने योग और अपनी विभूतिको विस्तारसे बतलाइये; क्योंकि इस अमृतमयी वाणीको सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।'

अध्यायके प्रारम्भसे भगवान्‌ने दो भाग स्वयं कर दिये हैं: श्रीकृष्ण स्वयं योगस्वरूप हैं तो अर्जुन विभूतिस्वरूप। अध्यायका प्रारम्भ करते हुए भगवान् कहते हैं:

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

—१०.१

'महाबाहो अर्जुन! तुमपर प्रसन्न होकर तुम्हारे हितकी कामनासे जो बोल रहा हूँ, मेरी उस परम वाणीको पुनः सुनो।' इसमें 'प्रीयमाणाय' योग है तो 'हितकाम्यया' विभूति है। परमात्मा प्रसन्न होकर भक्तको अपनेसे अभिन्न कर लेता है, यह योग है और वह जीवकी हितकामना करता है, यह उसकी विभूति है।

आगे भगवान्ने कहा :

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

—१०.२

'देवता और महर्षि भी मेरा प्रभाव नहीं जानते; क्योंकि मैं देवताओं और सभी महर्षियोंका भी आदि हूँ।' 'प्रभव' योग है तो 'प्रभाव' है विभूति। देवता विभूतिके—वैभवके जानकार हैं तो महर्षि प्रभावके। 'प्रभव' और 'प्रभाव' दोनोंको न देवता जानते हैं, न महर्षिगण। वह भगवान्की विभूति है।

अब योगका निरूपण करते हैं :

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—१०.३

'जो मुझे अज, अनादि और लोक-महेश्वर जान लेता है, वह मनुष्योंमें असम्मूढ है और सब पापोंसे छूट जाता है।' 'अज-अनादि'

योग है तो 'लोकमहेश्वरत्व' है विभूति। 'असम्मूढः स मर्त्येषु' योग है तो 'सर्वपापैः प्रमुच्यते' विभूति है। जो योग और विभूतिको जानता है, उसे अविकम्प-योगकी प्राप्ति होती है।

'सब कुछ परमात्मा है, जो कुछ हो रहा है, वह सब परमात्मासे हो रहा है' यह योगका लक्षण है :

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते। —१०.८

'सब दृश्यमान प्रपञ्च उसीसे प्रकट हुआ है, यह योग है और उसीसे सब प्रवृत्त हो रहा है, यह विभूति है। इस प्रकार समस्त सृष्टि, अभिन्न-निमित्तोपादान कारण परमात्मा ही है, इस तथ्यका ज्ञान होना ही अविकम्प-योग है। अर्थात् हम जहाँ जैसे रहेंगे, योगमें ही रहेंगे। रोते हैं तो वह रुला रहा है, हँसते हैं तो वह हँसा रहा है। मरते हैं तो वह मार रहा और जीते हैं तो वह जिला रहा है। सभी दशाओंमें हम उसीमें स्थित हैं, यह अविकम्प-योग है।

× × ×

भगवान् कहते हैं : 'बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि निवृत्ति-परायण और बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली देवता मेरे प्रभव (वैभव) और प्रभाव (शक्ति) को नहीं जानते।' इस प्रकार भगवान् एक ओर तो कहते हैं कि 'देवता और ऋषि मेरे प्रभव (जन्म) और प्रभावको नहीं जानते' तो दूसरी ओर कहते है : 'जो कोई मुझे अजन्मा और अनादि जान लेता है।' आखिर इसका तात्पर्य क्या है ?

सृष्टिकालमें जब रजोगुण प्रवृत्त होता है, तब ब्रह्मा प्रकट होते हैं। उनसे भिन्न-भिन्न सृष्टि होती है। प्रलयकालमें जब

तमोगुण प्रवृत्त होता है, तब लय हो जाता है। वस्तुतः चैतन्यका तो जन्म ही नहीं हुआ। तमोगुण-रजोगुण पहलेसे थे। वे जब सक्रिय हुए तो उनमें चैतन्य प्रतिबिम्बित हो गया—तद्विशिष्ट चैतन्य हुआ। जब सत्त्वगुण प्रकट होता है, तब उसमें बुद्धि होती है। ब्रह्ममें माया कल्पित है, वस्तुतः नहीं है। वह कल्पित माया कभी डूबती तो कभी उतराती है। जैसे कभी स्वप्न आता है, तो कभी नहीं। जब माया डूबती है, तब ईश्वरका ऐश्वर्य तथा मायाशवलरूप लुप्त हो जाता है। जब माया प्रकट होती है तब अन्तर्यामी, नियन्ता ईश्वरका जन्म है। दूसरी दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यरूप होनेके कारण वह ब्रह्म ही है। उसमें जन्म कैसे सम्भव है?

अतएव सर्वात्माके स्वरूपको देवता और ऋषि नहीं जान पाते; क्योंकि माया प्रकट हुई, उसमें मनस्तत्त्व प्रकट हुआ, तब ब्रह्मा प्रकट हुए। उन ब्रह्मासे देवता और ऋषि प्रकट होते हैं। इसलिए ब्रह्मासे पहले क्या था, ब्रह्मा और विष्णुका जन्म कैसे हुआ, उनका वैभव क्या है, यह बात वे ठीक-ठीक नहीं सोच सकते।

ईश्वर चैतन्यरूपसे अजन्मा है और उपाधिके कारण प्रकट-अप्रकट होता है। अतः 'देवता-महर्षि उसका जन्म नहीं जान पाते, यह कहना भी ठीक है और 'उसका प्राकट्य-अप्राकट्य जाना जा सकता है' यह कहना भी ठीक है।

दूसरी बात यह कि जब अवतार होता है, तब परमात्माका जन्म होता है—राम-कृष्ण, परशुराम-वामनका जन्म हुआ। अजायमानो बहुधा व्यजायत—इसका तात्पर्य है कि जीवसे जन्म लेना, जगत्से जन्म लेना तथा अवतार होना इनमें जो अन्तर है, उसे समझना चाहिए। प्रकृतिमें जो विकार होता है, उसीको 'जन्म'

कहते हैं। एक बीज है, उसे जब मिट्टीमें डाला तो वह फूला, फटा, अङ्कुर निकला, पौधा बना। इस तरह जड़ वस्तुका विकार जन्म है। जीवका जन्म है जड़के विकारको 'मैं-मेरा' मान लेना। किन्तु ईश्वर नित्य, शुद्ध, मुक्त, ज्ञानस्वरूप है। उसे कभी अज्ञान नहीं होता। अतः वह अजन्मा है। दूसरे लोग उसमें जन्मका आरोप करते हैं।

एक व्यक्तिको दो सौ रुपये महीनेका काम मिला। उसने सोचा—'यदि मैं ये रुपये व्यापारमें लगाता जाऊँ तो दो वर्ष बाद मुझे चार सौ मिलने लगेंगे।' चार सौके लोभमें दो वर्ष वह भोजन, वस्त्र आदि सबका कष्ट सहता रहा। ऐसे ही बुद्धि जब लोभ-मोहादिसे अभिभूत हो जाती है, तब कष्टका सृजन करती है। उसका पैसा जोड़ना ठीक था, किन्तु भोजन-वस्त्र तो आवश्यक था ही। इसी प्रकार किसीकी बुद्धि लोभमें, किसीकी भोगमें, किसीकी कर्तव्याकर्तव्यकी उधेड़बुनमें बहुत अधिक लग जाती है। यह बुद्धि मनुष्यको छोटी-छोटी वस्तुओंमें फँसा देह, धन, भोग, बन्धु-बान्धव आदिमें उलझाये रखती है। ईश्वरके विषयमें विचार किया जाय तो देह, धन, भोग, सम्बन्धी आदिसे बुद्धि हट जाती है। अतः ईश्वरके विषयमें विचार करना बड़े भाग्यशालीका लक्षण है।

आपके जीवनमें ऐसे कितने क्षण होते हैं, जब संसारके विषयमें न सोचकर बुद्धिको आप ईश्वरके विषयमें विचार करनेके लिए लगाते हैं। जीवनमें सबसे बड़ा संस्कार यही है। तीर्थयात्रा करनेसे पाप कटता है। एकान्तमें रहनेसे विक्षेप मिटता है; किन्तु ईश्वरके विषयमें विचार करनेपर अज्ञानान्धकार मिटता है। इसीलिए तीर्थयात्रा, एकान्त-सेवनादि सब साधनोंसे सत्संग बड़ा है। आइये, ईश्वरके सम्बन्धमें विचार करें।

यो मामजमनादिं च वेत्ति—भगवान् अजन्मा हैं। जीवका जन्म क्या है? जीव नया नहीं बनता। जीवका जन्म है असत्के साथ—शरीरके साथ तादात्म्य। किन्तु भगवान्का जो अवतार होता है, वह जड़के साथ तादात्म्य नहीं होता। वह तो भक्तके भावके सार्थक्यके लिए असंग चेतनकी परिस्फूर्ति मात्र है। भगवान्का शरीर न भौतिक है और न उसमें भूतवैशिष्ट्य है। आनन्द-मात्रकरपादमुखोदरादि···। भगवान्का भी विग्रह आनन्दघन है। उसमें हाथ-पैर, मुख-पेट आदि केवल आनन्दका घनीभाव है। अतः भगवान्का जन्म नहीं है।

जन्म कर्म च मे दिव्यम्—भगवान्ने कहा कि 'मेरे जन्म-कर्म दिव्य हैं।' यदि भगवान्के जन्मका रहस्य समझमें आ जाय तो व्यक्ति स्वयं भी जन्म-मरणसे छूट जाय।

'अज'का अर्थ है जन्म-मरण न होना। अ=नहीं+ज=जन्म-मरण। न जायते न म्रियते—जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी होता है। जितने जायमान हैं, उनसे विलक्षण अज है। इसमें प्रकृतिका अज होना, जीवका अज होना, ईश्वरका अज होना और परमात्माका अज होना समझना चाहिए।

अनादिञ्च—जो अजन्मा है, वह अनादि है। भगवान् शंकराचार्यने कहा: अनादित्वं अजत्वे हेतुः। अनादिका अर्थ है कि उसका कोई कारण नहीं है। श्रुतिने कहा: न कश्चिज्जनियता। उसका कोई बाप नहीं है।

वेत्ति लोकमहेश्वरम्—मिथ्या प्रकाश्यका वह प्रकाशक है। यो माम् एवं वेत्ति स मर्त्येषु असंमूढः—जो मुझे ऐसा अज,

अनादि, सर्वलोकमहेश्वर जानता है वह मरणशील लोगोंमें असंमूढ है।

'अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे—वेद भगवान् कहते हैं: 'शरीरधारी तो मर्त्य हैं और परमात्मा अमर्त्य है।' क्योंकि जो उसे जान लेता है, वह असंमूढ है।

मोह अज्ञान है तो सम्मोह है भ्रान्ति। रस्सीको न पहचानना 'मोह' है तो रस्सीको सर्प समझ लेना है, 'संमोह' भ्रम,। जब रस्सीको न पहचानेंगे तब उसे सर्प समझेंगे। लेकिन रस्सीको न पहचाननेपर उसके डंडा, हार, दरार कुछ भी होनेका सन्देह कर सकते हैं।

अज्ञानसे भ्रमकी उत्पत्ति होती है। पहलेमें सन्देह था, दूसरेमें विपरीत प्रत्यय हो गया कि 'हम पहचान गये कि यह सर्प है।' राजाको न पहचानना एक बात है और उसे चपरासी समझ लेना दूसरी बात। भय केवल अज्ञानसे नहीं होता। रस्सी नहीं पहचानी, इतनेसे भय नहीं होगा। भय होता है उसमें सर्पका भ्रम होनेसे। भ्रान्तिसे भय, लोभ, और दुःख निकला है।

'असंमूढ' वह है, जिसकी भ्रान्ति मिट गयी हो। परमात्माको न जानना मोह है और परमात्माको जीव, जगत्, देश-काल जानना संमोह है। यह संमोह बड़ा दुःख देता है। समाधिमें मोह—अज्ञान रहता है, पर संमोह नहीं। वहाँ अज्ञान रहता है; किन्तु भ्रान्ति नहीं। भ्रान्तिमें तो सर्परूप विषय है। समाधिमें विषय नहीं है। 'मैं समाधिमें हूँ' यह व्यक्तिका परिच्छिन्नत्वरूप अज्ञान समाधिमें है।

'असंमूढः'—जहाँ परमात्माको जाना, वहाँ भ्रान्ति गयी: सर्वपापैः प्रमुच्यते। पाप यही है कि जीव परमात्मासे विमुख

है। जो ईश्वरसे विमुख कर दे, वह पाप है। पापका पता विज्ञानसे नहीं चलता। नेत्रादि या यन्त्रसे पाप देखा नहीं जाता। समाज और देशकी पाप-पुण्यकी मान्यताएँ बदलती रहती हैं। एक समाजमें, एक देशमें, एक कालमें जो पाप है, वह दूसरे समाज या भिन्न कालमें उसी समाजमें पुण्य माना जाने लगता है। एक ही कर्म एक व्यक्तिके लिए पुण्य तो दूसरेके लिए पाप होता है। एक समयमें एक कर्म पुण्य तो दूसरे समयमें पाप हो जाता है। पाप-पुण्य न क्रियासे बनते हैं, न भावसे और न वस्तुसे। वे केवल शास्त्रप्रमाणसे प्राप्त हैं : चोदनालक्षणो धर्मः।

अपने आपको—जिसके लिए कि सब है, उसीको—भुलाकर तुम भ्रममें फँस गये हो। आखिर स्त्री-पुत्र, धन-भवन किसके लिए? समाधि या भगवद्दर्शन किसके लिए है? जिसके लिए यह सब है, उसकी ओर पीठ करके उलटे चल पड़े। परमात्माको न जानना और विषयको सुखद समझना, विषयमें स्वतन्त्र रूपसे प्रकाश समझना, विषयको स्वतन्त्र सत्तावान् समझना, यही पाप है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

—वाल्मीकीय-रामायण

'जो भिन्न प्रकारके आत्माको उससे भिन्न समझता है, उस चोर—आत्मापहारीने क्या पाप नहीं किया?' जो जैसा है, उससे भिन्न अपनेको प्रकट करता है, वह चोर है। चोर होकर अपनेको साधु प्रकट करना माया है, दम्भ है, कपट है। अतः सत्यके विपरीत जो मान्यता है, वह पाप है। जब भ्रान्ति मिट गयी, तब पाप कहाँ रहा? तब वह 'असंमूढ' हो गया। ●

भगवान्से ही मिलते हैं :

२. बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाऽभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥
—१०.४-५

भगवान् कहते हैं : 'बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश ये भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणियोंके भाव मुझसे ही मिलते हैं।'

'बुद्धि' संशयकी निवर्तक है, 'ज्ञान' अज्ञानको दूर भगाता है तो 'असम्मोह' विपर्यय मिटाता है। तीनों परमार्थकी ऊँची बातें हैं। 'क्षमा', 'सत्य', 'दम' और 'शम' ये चार अन्तःकरणकी शुद्धिके साधन हैं। ये सातों साधन परमात्मा ही देता है।

बुद्धिने संशय मिटाया, असंमोहने विपर्यय निवृत्त किया और ज्ञानने अज्ञान दूर कर दिया। दूसरे शब्दोंमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही बुद्धि, ज्ञान, असंमोह हैं। ये साधन परमात्माने दिये

और अन्तःकरणकी शुद्धिके साधन क्षमा सत्यं दमः शमः भी उसीके दिये हुए हैं।

यहाँ भगवान् आध्यात्मिक भावोंकी गणना कराते हैं। इनमें पहला नाम है 'बुद्धि'। बुद्धि चाहे व्यष्टिरूपमें हो या समष्टिरूपमें, जिसमें सबका बीज है, वह बुद्धि है। 'अस्ति' एक सामूहिक होता है और एक विशेष-विशेष वस्तुओंका पृथक्-पृथक्। उस बीजको जड़की दृष्टिसे 'बीज' कहते हैं तो चेतनकी दृष्टिसे 'जीव'।

देश, काल, वस्तु तीनोंका आदि-अन्त कल्पित है और मध्य भी कल्पित है। इस कल्पितका अधिष्ठान परमात्मा सत्य है। इस अकल्पित अधिष्ठान परमात्मासे ही सबकी बुद्धि प्रकाशित है। सबकी बुद्धि पृथक्-पृथक् होती है। किसीकी सात्त्विक, किसीकी राजस तो किसीकी तामस। किन्तु तामस बुद्धि भी शैतान नहीं देता। हमारे यहाँ खुदा-शैतानका भेद नहीं है।

प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार, अहंकारसे पंचतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। अतः यहाँ बुद्धिका अर्थ 'महत्तत्त्व' है। प्रकृतिसे जो महत्तत्त्व प्रकट होता है, वह 'बुद्धि' कहलाता है। वह कैसे प्रकट होता है, इस सम्बन्धमें भगवान्ने ही गीतामें कहा है :

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। —९.१०

नानारूपोंके व्यक्त होनेसे पूर्व जो स्थिति है, उस अव्याकृतको ही वेदान्ती 'अव्यक्त' कहते हैं।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।

इस प्रकार समष्टि-बुद्धि प्रकृतिमें ईश्वरकी प्रेरणासे प्रकट हुई। अतः बुद्धिका सञ्चालक और प्रेरक ईश्वर है।

व्यष्टिमें आकर बुद्धिके तीन रूप हो गये : सात्त्विक, राजस, और तामस। भगवान्‌ने कहा :

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। —१०.५

प्राणियोंके सब विभिन्न भाव भगवान्‌से ही होते हैं।' किन्तु अन्तः-करणके संस्कार-भेदसे वे अनेक प्रकारके हो जाते हैं, जैसे बुद्धिके भेद हो जाते हैं :

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
—१८.३२

'अर्जुन ! वह तामसी बुद्धि है जो तमसाच्छन्न होनेके कारण अधर्मको धर्म मानती है और सभी बातोंको विपरीत देखती है।' जो मिलानेका काम नहीं करती, झगड़नेका—वियुक्त करनेका, तोड़नेका काम करती है, विपरीत अर्थ देखती है, सरूप अर्थ नहीं देखती, वह तामस बुद्धि है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
—१८.३१

'अर्जुन ! वह बुद्धि राजसी है जिससे धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य ठीक-ठीक नहीं समझा जाता। इससे सच्चा ज्ञान नहीं होता।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
—१८.३०

पार्थ ! वह बुद्धि सात्त्विक है जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय और बन्धन-मोक्षको समझती है।

यह सात्त्विकी बुद्धि ईश्वरकी कृपासे प्राप्त होती है और उन्हींकी ओर ले जाती है। भगवान् कहते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

—१०.९-१०

अर्थात् 'जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनका प्राण-जीवन मैं बन गया हूँ, ऐसे लोग परस्पर एक दूसरेको समझाते हैं, परस्पर मेरी चर्चा करते हैं और उसीसे सन्तुष्ट होते हैं, उसीमें सुख मानते हैं। उन निरन्तर मुझमें लगे प्रेमपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।'

धर्माधर्मसे असंगबुद्धि, निर्वेददायिनी बुद्धि, समाधिदायिनी बुद्धि और शान्तिदायिनी बुद्धि, ये चारों प्रकारकी बुद्धियाँ आत्म-प्रसादजन्य होती हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।—२.५०

ऐसी बुद्धिसे युक्त पुरुष यहीं पाप-पुण्य दोनों त्याग देता है। अतः जब कर्मका कर्तृत्व और सुख-दुःखका भोक्तृत्व तुममें न रहे, तब बुद्धि प्राप्त हुई, यह समझा जायगा। जहाँतक पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्न-संसारी, मरने-जीनेवाला, स्वर्ग-नरक जाने-वाला अपनेको मानते हो, वहाँतक कहना होगा कि सच्ची बुद्धि नहीं मिली।

'इह' अर्थात् जीवित रहते ही सुकृत-दुष्कृत दोनों छोड़ते हैं। कर्म हो रहा है; किन्तु पाप-पुण्य दोनोंसे असंग है।

जब मनुष्य किसी देवताकी उपासना करता है, तो देवता उसकी रक्षा कैसे करता है? जिससे रक्षा हो जाय, देवता उसे ऐसी बुद्धि दे देता है। देवताका काम बुद्धिमें परिवर्तन मात्र करना है।

प्रायः जब मनुष्यको देवता बुद्धि देता है और उससे मनुष्य अच्छा काम करता है, तो उसे अपनी बुद्धि याद रहती है, देवता भूल जाता है। वह सोचता है—'हमने अपनी बुद्धिसे ऐसा काम किया।' इस तरह देवताका तिरस्कार हो जानेपर देवता बुद्धिमें प्रेरणा नहीं देता।

देवताकी ओरसे भी यह बुद्धि ईश्वर ही देता है। जब कहीं, जहाँ कहीं, जो कुछ आपने देखा, सूर्यकी सहायतासे ही देखा। यदि सूर्य सहायता न दे तो नेत्र देख नहीं सकते। इसी प्रकार ईश्वरकी सहायताके बिना हमारी बुद्धि सोच नहीं सकती।

ईश्वर शत्रुको भी बुद्धि देता है और हमें भी। तब वह दोनोंको दो प्रकारकी बुद्धि क्यों देता है? इसका उत्तर सब आस्तिक दार्शनिकोंने एक ही दिया है—ईश्वर कर्मानुसार बुद्धिका दान करता है। जिसका जैसा कर्म है, जैसा संग-साथ है, उसे वैसी बुद्धि मिलती है। ईश्वरके प्रकाशमें सब बुद्धियाँ बनती और काम करती हैं; किन्तु जिस रंगका शीशा हो, उससे वैसा ही प्रकाश निकलता है।

भागवतकारने बुद्धिके दस कारण गिनाये हैं:

आगमोऽपः प्रजा पालः देशो जन्म च कर्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारा दशैते बुद्धिहेतवः॥

—भागवत

अर्थात् १. आगम, जिस प्रकारके धर्मग्रन्थमें श्रद्धा हो। २. अपः, माता-पिताके रज-वीर्यमें जैसे संस्कार रहे हों। ३. प्रजा, जैसे लोगोंमें रहना, मिलना-जुलना हो। ४. पाल, जैसे वातावरण एवं प्रशासनमें पालन-पोषण हो। ५. देश, जैसे स्थानपर जैसी जलवायु रहे। ६. जन्म, जैसे कुलमें जन्म हो। ७. जैसा कर्म करे। ८. ध्यान, जैसा सोचें। ९. मन्त्र, जैसी सलाह मिले। और १०. प्रारब्ध कर्मके संस्कार जैसे हों। इन दस कारणोंके अनुसार बुद्धि बनती है।

एक ही मिट्टीसे सब वृक्ष उत्पन्न होते हैं; किन्तु बीजके संस्कारके अनुसार वे पृथक्-पृथक् होते हैं। इसी प्रकार ईश्वरसे ही उत्पन्न होनेपर भी संस्कारके अनुसार बुद्धियोंमें भेद होता है। राजसी और तामसी बुद्धि अनर्थ देनेवाली होती हैं। उनसे केवल दुःख ही मिलता है। तामसी बुद्धि उलटी होती है और राजसी बुद्धि ठीक निर्णयमें असमर्थ होती है।

सात्त्विकी बुद्धि ही अर्थदा, भोगदा और मोक्षदा होती है। धर्म द्वारा नियन्त्रित बुद्धि सुखदा होती है और धर्मसे अनियन्त्रित बुद्धि दुःखदा होती है। धर्मसे नियन्त्रित बुद्धि लोक-परलोक दोनोंमें सुख देनेवाली होती है।

मोक्षदा बुद्धि दो प्रकारकी होती है : १. ईश्वरके प्रसादसे प्राप्त या २. आत्मप्रसादसे प्राप्त। यह या तो वैराग्य देती है या निष्कामता। बुद्धिकी शरण लेनेका अर्थ ही है निष्काम होना—कामनाका त्याग करना।

वैराग्य, निष्कामता, समाधि ये सब उत्तम हैं; किन्तु ईश्वर न मिला तो इनमें कोई टिकाऊ नहीं होगी। जब परमात्माकार-बुद्धि होगी, तभी इस मायासे छूटोगे।

जबतक ईश्वरकी दी हुई बुद्धि ईश्वरको नहीं दोगे, तबतक तुम अपूर्ण ही रहोगे।

तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ —५.१७

'उस परमात्मामें ही बुद्धि और मन लगायें। उसीमें दृढ़, उसीके परायण लोग ज्ञानसे समस्त कल्मष नष्टकर अपुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं।' यह ईश्वरकी बुद्धि ईश्वरके पास पहुँची।

तद्बुद्धयः—ईश्वर बुद्धि देता है, पर तुम यह अनुभव करो कि बुद्धि देनेवाला ईश्वर है, बुद्धिका आश्रय ईश्वर है। वह बुद्धिके पीछे रहकर बुद्धिको प्रकाश तो देता ही है, किन्तु बुद्धिके आगे भी ईश्वरको ही रहना चाहिए।

लोग कहते हैं: 'ईश्वर क्या बुद्धिमें आनेवाला है?' लेकिन यह असम्भावना है। पर जैसे ईश्वरको तुम जानते हो, उसीको बुद्धिमें ले आओ।

जो बुद्धिमें दीखता है, उसीको ईश्वर समझ लेना विपरीत भावना है।

बुद्धिमें कई दोष होते हैं: लय (जड़ता), विक्षेप (चंचलता), रसास्वाद (झूठी वस्तुमें रस लेने लगना), कषाय (राग-द्वेषमें पड़ना), अप्रतिपत्ति, (ईश्वरको यह मानकर छोड़ दिया कि वह बुद्धिमें नहीं आता)। इस अप्रतिपत्तिके ही भेद हैं अग्रहण (सुषुप्ति) और विपरीत ग्रहण (स्वप्न)। अतः बुद्धिको सोने मत दो, जाग्रत रखो।

बुद्धिको परमात्मामें लगानेका उपाय है : तदात्मानः। जो आत्मा, सो परमात्मा। इस आत्मा-परमात्माके ऐक्यको समझना ही बुद्धिको परमात्मामें लगाना है।

तन्निष्ठाः—उसमें निष्ठा होनी चाहिए। 'निष्ठा' का अर्थ स्मरण रखना नहीं। बच्चा पढ़ने जाय और मांको ६ घंटे उसकी याद न आये तो क्या मांके प्रेममें कमी है? बच्चेके भूल जानेसे प्रेम कहीं गया नहीं। प्रेम और ज्ञानपर स्मृति-विस्मृतिका प्रभाव नहीं पड़ता। विस्मृतिसे ज्ञान लुप्त नहीं होता। घड़ेकी याद न आये तो क्या घड़ेका ज्ञान नष्ट हो गया? ज्ञान स्मृति-व्यावृत्त है अर्थात् स्मृतिसे भिन्न है :

'निष्ठा' नहीं बनती तो तत्परायणाः—'अपनी निष्ठाको घर बनाओ।' जैसे इधर-उधर जाते हो, घूमते हो; किन्तु घर लौट आते हो। स्वप्नके पचास वर्ष एक मिनटके जागरणसे मिट जाते हैं।

ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः—'कर्म' शब्दसे ही 'कल्म' बना है। कर्मके संस्कार ही 'कल्मष' है। 'यह करना है, वह करना है' यह ज्ञानसे मिटेगा। परोक्ष, जो 'तत्'पदका लक्ष्यार्थ है और अपरोक्ष, जो 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ है, दोनोंको एक करना 'तदात्मानः' है—तत् एव आत्मानो येषाम्।

इससे भी परे एक बुद्धि है। यह बुद्धि तो अविद्याको निवृत्त करके बाधितानुवृत्तिसे निवृत्त हो जाती है। लेकिन एक बुद्धि जीवन्मुक्तके शरीरमें जीवनपर्यन्त रहती है :

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥—५.२०

'प्रियको पाकर हर्षित न हो और अप्रियको पाकर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि, असंमूढ ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें ही स्थित है।'

यह बाधित-बुद्धि है; क्योंकि जहाँ उपाधि ही बाधित हो गयी, वहाँ उपाधिका एक अंश बुद्धि अबाधित कैसे रह सकती है?

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्—उद्वेगका आश्रयत्व और कर्तृत्व अपनेमें न हो। यह किसमें होगा? जो असम्मूढ हो। असम्मूढ ब्रह्मविद् है और ब्रह्मविद् ब्रह्मनिष्ठ है। वह ब्रह्ममें स्थित है। यहाँ 'ब्रह्मनिष्ठ'का अर्थ है ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानप्राप्त और 'ब्रह्मविद्'का अर्थ है श्रोत्रिय। जड़-चेतनका अध्यास न होना 'असम्मूढ' है।

ये बुद्धियाँ कहाँसे आती हैं? कहना होगा भगवान्‌से। अतएव भगवान् कहते हैं:

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि 'शान्तवृत्ति'का नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है। 'शान्त' और विक्षिप्त' दोनों अन्तःकरणकी दो अवस्थाएँ हैं। क्षिप्त, विक्षिप्त, शान्त, मूढ़ आदि अवस्थाएँ चित्तकी हैं। इन्हींमें एक निरुद्ध-अवस्था है। द्रष्टा पुरुष भूमिकाका द्रष्टा हैं। जैसे वह व्यक्तिगत निरुद्ध-भूमिकाका द्रष्टा है, वैसे ही समष्टि-गत निरुद्ध-भूमिकाका भी द्रष्टा है या कोई दूसरा? दूसरा होगा तो वह दृश्य होगा, परिच्छिन्न होगा। यदि वह अपना आपा ही है तो उस अपने आपमें अपने आपका बोध स्वयं प्राप्त होना चाहिए। ब्रह्मज्ञान अपने आपका बोध होना है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह—'बुद्धि'का अर्थ है, संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ रूपमें समझनेकी शक्ति। 'ज्ञान' है, जो पदार्थ

जैसा है उसका ठीक वैसा ही प्रकाशन। 'असंमोह' है विवेक हो जानेपर फिर भूल न करना।

कुछ लोग कहेंगे : 'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह' एक ही हैं।' किन्तु यह तो अविवेकके गड्ढे में गिरना है : जानि न परै झूठ का साँचा। मनुष्यके अन्तःकरणमें जो समझनेकी शक्ति है, उसका नाम 'बुद्धि' है। वह कर्तव्याकर्तव्य, अच्छे बुरेका भेद समझा सकती है।

सूक्ष्मार्थावबोधसामर्थ्यं बुद्धिः। वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशन ज्ञान है। बुद्धि भीतरसे बाहर आती है। ज्ञान जिसको जानता है, उसके स्वरूपको बाहर लाता है। ज्ञेय वस्तुकी प्रधानता ज्ञानमें है कि वस्तु ज्यों-की-त्यों जानी जाय। परमार्थके क्षेत्रमें हेरफेर करके जानना जानना नहीं है।

ज्ञान वस्तुतन्त्र है तो बुद्धि कर्तृप्रधान। एक वस्तुको हम जानते हैं कि वह झूठी है, तो बुद्धि उसे सत्य सिद्धि कर सकती है। वकीलोंकी बड़ी-बड़ी बुद्धिका चमत्कार आप जानते हैं। संस्कारकी प्रधानतासे बुद्धि काम करती है, तो ज्ञान वस्तुके स्वरूपकी प्रधानतासे काम करता है। प्रमाण-प्रधान बुद्धि है तो प्रमेय-प्रधान ज्ञान। मनुष्यको मनुष्य बतलाना ज्ञानका काम है, तो 'यह बुरा है या अच्छा' यह बतलाना बुद्धिका काम।

पुत्रोऽहं पृथिव्याः—'पृथिवी माता है और हम उसके पुत्र हैं' यह एक ज्ञान है और 'भारतमाता है' यह एक ज्ञान। इसे 'मर्यादा' कहते हैं। इतना खेत हमारा, इतना तुम्हारा—इनके बीच जो मेड़ है, वह मर्यादा है। यह मर्यादा अच्छाईके लिए है कि मनमें द्वेष न हो, लड़ाई न हो। यह भेद-ज्ञान तो है; किन्तु अक्लिष्ट है—मर्यादा है।

ज्ञानके दो काम हैं : १. प्रमाण और २. निर्माण। प्रमाण वस्तुस्वरूपको ठीक-ठीक बतला देगा। निर्माण है, रचना करना। स्थूल ज्ञान—सविशेष ज्ञान हृदयमें आता है, तो निर्माण करता है। यह तान्त्रिक ज्ञान है।

> अमानित्व-मदम्भित्व-महिंसा-क्षान्ति-रार्जवम् ।
> आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
> इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
> जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि - दुःखदोषानुदर्शनम् ॥
> असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्र-दार-गृहादिषु ।
> नित्यं च समचित्तत्व-मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
> मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
> विविक्तदेशसेवित्व - मरतिर्जनसंसदि ॥
> अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
> एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
>
> —(१३.७–११)

अर्थात् 'अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्योपासना, शौच, स्थिरता, मनोनिग्रह, इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य, अहंकारराहित्य, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप दोषोंपर सतत दृष्टि, अनासक्ति, पुत्र-स्त्री-गृहादिमें मोह न होना, अभीष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा समचित्तता, अनन्ययोगसे भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तदेशका सेवन, जनसमूहमें अरुचि, अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति, अर्थदर्शनकारी तत्त्वज्ञान—यह ज्ञान कहा गया है। जो इनके विपरीत है, वह अज्ञान है।'

ज्ञानका साधन होनेसे ये 'ज्ञान'पदके वाच्य हैं। यह ज्ञान ईश्वर देता है। ईश्वर ज्ञान कैसे देता है? तुम अपनी जानी हुई

बुराई त्यागनेको प्रस्तुत हो या नहीं? तुम्हारे अन्तःकरणमें जो ईश्वर बैठा है, उसका निर्णय मानते हो या नहीं?

सामान्य ज्ञानके सम्बन्धमें तीन बातें हैं: १. ज्ञान बुद्धि देता है। २. ज्ञान जड़का होता है और ३. जिसका ज्ञान होता है, वह मरता जाता है। अनेक जानकारियाँ दुःखद होती हैं। जैसे तुमने किसीकी बात छिपकर सुनी। फिर उससे लड़ाई हो गयी। लेकिन दुःख ज्ञानसे नहीं होता। ज्ञान तो प्रकाशक है। दुःख विषयकी कुरूपतासे होता है।

भेद-ज्ञान शान्ति, अद्वेष और सद्भावका हेतु हो तो वह अक्लिष्ट है। यदि वही द्वेष, लड़ाई, असद्भावका हेतु हो तो वह क्लिष्ट होगा। 'यह हमारा खेत अच्छा रहे, दूसरेके खेतमें पानी न जाय, घास न उगे, उगे सो नष्ट हो' यह क्लिष्ट है।

जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्षको ठीक-ठीक जाने, वह सात्त्विक बुद्धि है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
—१८.२०

अर्थात् 'पृथक्-पृथक् विभक्त सर्वभूतोंमें जो एक, अविभक्त, अव्यय भावको देखता है, उस ज्ञानको सात्त्विक समझो।'

सबमें एकताका दर्शन अनेक प्रकारसे होता है: १. सब शरीर पञ्चभूतोंसे बने हैं। २. एक ही चेतन सब रूपोंमें प्रतीत हो रहा है, आदि।

बुद्धि पहचाननेकी शक्ति है; किन्तु स्त्री या पुरुषको पृथक्-पृथक् करके उनकी पहचान देती है। चित्तमें राग-द्वेष हो तो समझ उलटी हो जाती है। जिससे राग हो उसके दोष और जिससे द्वेष हो, उसके गुण नहीं दीखते। भगवान् बुद्धि दे और किसीसे राग-द्वेष या पक्षपात न हो, तभी बुद्धि कुंठित नहीं होगी।

ज्ञानमें वस्तु-व्यक्तिका स्वभाव प्रकट होना चाहिए। वस्तु अपनेपर पर्दा डाल ले तो भी ज्ञान नहीं होगा। अतः ज्ञान निर्मल होना चाहिए। ज्ञान होनेपर भी बार-बार सम्मोह हो जाता है. जैसे मनुष्य जानता है कि झूठ बोलना बुरा है, लेकिन जब स्वार्थ मध्यमें आता है और बुद्धिको लगता है कि यहाँ झूठ बोलनेसे ही स्वार्थ सधेगा, तब बुद्धि ही झूठ गढ़ने लगती है। यह सम्मोह हो गया। यह शक्ति भी भगवान् देते हैं।

भगवान्ने कहा है :

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।—१३.१७

'ज्ञानस्वरूप परमात्मा है। उसका अज्ञान जिससे नष्ट होता है, वह वृत्तिज्ञान भी परमात्माका ज्ञान है। उस ज्ञानके लिए जो साधन हैं, वे परमात्माके ही दिये हैं।

हमारी बुद्धिके पीछे जो परमात्मा बैठा है, उसीकी कृपासे, उसीकी सत्ता या उसीकी प्रेरणासे ज्ञान प्रकाशित हो रहा है।

संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं, जिसे ज्ञान न हो। पक्षी स्वयं भूखे रहनेपर भी मुखमें चारा लेकर स्वयं नहीं खाते, बच्चेको खिलाते हैं। उन्हें ज्ञान तो है कि बच्चा भूखा है, किन्तु उनमें मोह है। मनुष्यमें इस प्रकार ज्ञान और मोहका मिश्रण नहीं होना

चाहिए। लेकिन मार्कण्डेय-पुराणके 'सप्तशती'-प्रकरणमें सुरथ राजा ऋषिसे पूछता है :

> एवमेष तथाऽहं च द्वावप्यत्यन्तदुःखितौ।
> दृष्टदोषेऽपि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ॥
> तत्किमेतन्महाभाग यन्मोहो ज्ञानिनोरपि।
> ममाऽस्य च भवत्येषा विवेकान्धस्य मूढता॥

अर्थात् पता है कि ये प्राणी-पदार्थ साथ देनेवाले नहीं हैं, इनमें दोष दीख रहा है; फिर भी मोह हो ही गया। आखिर क्यों? समझदारी रहते यह मोह कहाँसे आया?

बात यह है कि ज्ञान दो प्रकारका होता है : १. मोहसम्पृक्त और २. मोहासम्पृक्त। मोह भी ज्ञानका ही एक रूप है। ज्ञान भी राजस, तामस और सात्त्विक होता है।

> यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
> अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ १८.२२

'जैसे सब कुछ वही हो, ऐसे एक ही काममें बिना कारण लगे हैं, उससे कुछ तथ्य नहीं निकलता, छोटा-सा काम है, तो यह ज्ञान तामस कहा गया है।'

किसी कार्यमें लगे हैं, पूछो : 'इससे क्या हानि-लाभ होगा?' कहते हैं : 'सोचा नहीं।' वह अतत्त्व भी है और अर्थवत् भी नहीं है। इस प्रकार जो झूठी वस्तुमें बिना मतलब सब कुछ उसीको मान बैठे, वह तामस ज्ञान है।

देहको 'मैं' मानना तामस ज्ञान है; क्योंकि देह विकार है—अतत्त्व है। इसके मोहमें पड़नेसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं

होती। यह अल्प, थोड़े दिन जीनेवाला है। इसमें प्रीति सोच-समझकर नहीं की गयी है। लेकिन आज यह देह ही सब कुछ लग रहा है। यह देहात्मज्ञान तामस ज्ञान है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
—१८.२१

'जिस ज्ञानसे सब भूतोंमें नाना प्रकारके पृथक्-पृथक् भावोंका पार्थक्य देखा जाता है, उसे राजस ज्ञान समझो।' जिससे लड़ाई हो, वह राजस ज्ञान। 'यह मेरा, यह तेरा' इस प्रकार सम्प्रदाय, जाति आदि भेदोंका प्रतिपादक ज्ञान राजस ज्ञान है। यह ज्ञान मौलवी, पादरी, पुरोहितका है। किन्तु सन्त साम्प्रदायिक नहीं होता, वह तो 'सार्वभौम' होता है।

असम्मोहः—असम्मोहका अर्थ है अज्ञानकी निवृत्ति। गीतामें ही भगवान् अर्जुनको गीता सुनाकर पूछते हैं :

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय। —१८.७२

'धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानरूप जो सम्मोह था, वह नष्ट हो गया?' अर्जुनने अपनेको गीता प्रारम्भ होनेसे पूर्व 'धर्मसम्मूढ-चेताः' बतलाया था।

ज्ञान भी कोई ऐसा होता है जो होकर भूल जाता है। जिसमें फिर अज्ञान न हो, ऐसा ज्ञान असम्मोह है। बुद्धि हो, ज्ञान हो और उसके बाद फिर कभी सम्मोह न आये।

विवेकसे तो थोड़ी देरके लिए प्रकाश होता है, फिर दुर्बल पड़ जाता है। जो दृश्यको देखता है, वह घटसे न्यारा है, यह

बात सच है। जो घटको देखता है, वह घटसे न्यारा है। लेकिन यह प्रक्रिया अधूरी है। जो देखता है, वह दीखनेवालेसे न्यारा होता है, किन्तु दीखनेवाला देखनेवालेसे न्यारा नहीं होता।

'घटाद् मृद् पृथग् भवति, किन्तु मृत्तिकातो घटः पृथङ् न भवति'–घड़ेसे मिट्टी पृथक् होती है, किन्तु मिट्टीसे घड़ा पृथक् नहीं होता। जड़से चेतन पृथक् है; किन्तु चिन्मात्र अखण्ड वस्तुसे जड़ पृथक् नहीं है। अतः जड़-चेतनका विवेक हो गया, यह कब समझेंगे? जब द्रष्टा ब्रह्म हो जाय। जब द्रष्टा ब्रह्म हो जाता है, तब दृश्य नामकी कोई वस्तु नहीं रहती।

वेदान्तका विचार अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए है। दृश्यसे द्रष्टाको अलग कहकर द्रष्टा-दृश्यके द्वैत-स्थापनके लिए वेदान्त नहीं है। वेदान्तका सिद्धान्त अद्वय तत्त्व है। द्रष्टा दृश्यसे न्यारा है, इसे 'व्यतिरेक' कहते हैं और द्रष्टा दृश्यमें अनुगत है, इसे कहते 'अन्वय'। मूलतत्त्वमें न अन्वय है और न व्यतिरेक।

दृश्यसे न्यारा होनेका अर्थ है, 'परिच्छिन्नसे मैं न्यारा हूँ।' कालमें जो क्षण-क्षण हैं, दृश्यमें जो कण-कण हैं तथा कण-कणका जो विस्तार है, ये तीनों दृश्य हैं। क्षण-क्षणसे कालकी समष्टि बनी है। कण-कणसे वस्तुकी समष्टि बनी है। आत्मा सम्पूर्ण देश-रूप दृश्यसे, सम्पूर्ण कालरूप दृश्यसे और सम्पूर्ण वस्तुरूप दृश्यसे न्यारा है, अर्थात् अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म है। अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मसे न्यारी कोई वस्तु नहीं। यह बोध हो जाय तब कहीं रहो, तुम्हें सम्मोह नहीं होगा।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

श्रुति कहती है कि 'एकत्वको देखते हुए वहाँ कैसा मोह और कैसा-किसका शोक?'

बार-बार समझमें आये और बार-बार मोह हो जाय, इसका क्या अर्थ है? एक मनुष्यके सामने स्वादिष्ट भोजन रखा गया। उससे कह दिया—'इसमें विष पड़ा है।' उसका हाथ रुक गया। फिर वह भोजनके लिए ग्रास उठाये—'तनिक खीर तो खा ही लें, तो इस प्रवृत्तिका अर्थ है कि भोजनमें विष है, यह ज्ञान उसे नहीं हुआ। यह ज्ञान हो जाता तो फिर खानेका लोभ नहीं होता। इसी प्रकार अपनेको ब्रह्म भी जानना और अन्तःकरणके नन्हें छिद्रमें घुसकर उसे 'मैं' भी मानना, दोनों बातें नहीं हो सकतीं।

जहाँ ठीक-ठीक ज्ञान है, वहाँ असम्मोह है अर्थात् वहाँ फिर सम्मोह नहीं होता। मोहका अर्थ है, अपनेको ब्रह्म न जानना। सम्मोहका अर्थ है, अपनेको जीव मानना तथा असम्मोहका अर्थ है, अपनेको जीव माननेकी भ्रान्ति और ब्रह्म न जाननेका अज्ञान दोनोंका मिट जाना।

बुद्धि होना, ज्ञान होना, असम्मोह होना भगवान्की कृपासे होता है। अर्जुनने गीता सुनकर कहा :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त की।'

●

भगवान्से ही मिलते हैं :

३. आन्तरिक साधन :
क्षमा, सत्य, दम, शम

क्षमा—संसारमें उत्पात होता ही रहता है। उपद्रव करनेवाले उपद्रव करेंगे ही। पर क्षमा बड़नको चाहिए। अपने भीतर प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य रहनेपर भी अपराधीको दण्ड न देना क्षमा है।

अपराधीका अर्थ स्वयं पतित है। 'राध्' अर्थात् साधनासे जो 'अप'गत यानी च्युत हो, वही अपराधी है। जिसमें साधनाका भाव होता है, वह अपने अन्तःकरणकी शुद्धिपर स्वयं ध्यान रखता है, अशुद्धिसे बचता है। जिसके अन्तःकरणमें साधनाका भाव नहीं रहता, वह स्वयं अपराधसे बचनेका यत्न नहीं करता। जिसके प्रति उसने अपराध किया, उसके मनमें साधनाका भाव है। अब यदि वह अपराधपर क्रोध करेगा, तो उसके मनसे भी साधनाका भाव निकल जायगा। तब दोनों एक ही भूमिकामें आ गिरेंगे। दो व्यक्ति परस्पर गुथे लड़ रहे हों, तो एक ही भूमिपर गिरेंगे।

सद्‌गुणोंकी व्यवस्था वर्णाश्रमधर्मके अनुसार होती है। सबका अपना-अपना कर्तव्य होता है। सैनिकके लिए शत्रुको मारनेमें पाप नहीं है। भगवान्से अर्जुनने कहा : 'मर जानेमें पुण्य है।' भगवान्ने

कहा : 'नहीं, मारनेमें पुण्य है।' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्—'अर्जुन ! तुम सैनिक हो, तुम्हारे लिए मारना ही पुण्य है।'

क्षमा एक सद्गुण है। इसमें अन्तःकरणके नियन्त्रणकी सामर्थ्य है। क्षमा जाति या सम्प्रदायका धर्म नहीं; व्यक्तिका धर्म है। सम्प्रदाय या जाति किसे क्षमा करेंगे ? किसीको नहीं। किन्तु अपने अन्तःकरणको अपने नियन्त्रणमें लेकर जो परमात्माकी ओर चल रहा है, उसके लिए यह बात है कि सामर्थ्य रहनेपर भी अपराधीको दण्ड न देना। यह क्षमा ईश्वरके भीतरसे—अन्तर्यामीकी प्रेरणासे आती है।

जो उन्नतिके मार्गपर चल रहे हैं, वे पैर सम्भालकर रखते हैं। जो अवनतिके मार्गपर चल रहे हैं, उन्हें पैर सम्भालकर रखनेकी चिन्ता नहीं रहती।

ईश्वर कृपा करके साधकको क्षमा कर देता है। क्षमा सभ्यका और समर्थका लक्षण है। ऐसा भाव अपराधीके लिए भी आये कि 'जा, तेरा भला हो।'

एक क्षमा कृपा-अनुकम्पापरक होती है, तो एक क्षमा सामर्थ्यपरक : क्षम् सामर्थ्ये, क्षम् अनुकम्पायाम्। समर्थ पुरुषको 'क्षम' कहते है। संस्कृतके अनुसार 'क्षम'का अर्थ है, क्षमा-सहित। सामर्थ्यवान्के लिए 'क्षम' शब्द होगा।

एक चोर पकड़ा गया। लोग इकट्ठे हुए। सब कहते थे : 'इसे मार डालो।' ईसाने कहा : 'जिसने कभी चोरी न की हो, वह पहला पत्थर इसे मारे।' एक-एक करके सब वहाँसे खिसक गये।

सृष्टिमें गुण-दोष दोनों होते हैं। संसारमें ऐसा कोई नहीं, जिसमें गुण-दोष दोनों न हों। मनुष्यको दूसरेका तिलभर दोष दीखता है, पर अपना सेरभर दोष नहीं दीखता। अज्ञात रूपसे अपनेमें जो ब्रह्मभाव है, उसके कारण सब अपनेको सुन्दर, सबसे बुद्धिमान् और निर्दोष समझते हैं।

एकने अपराध किया। दूसरे ने कहा : 'हमें क्रोध आया, हम दण्ड देंगे।' तीसरा बोला : 'तुम कानून अपने हाथमें ले रहे हो, अतः तुम भी दण्डनीय हो।'

एक व्यक्ति एक कामको ठीक कहता है, दूसरा दूसरे कामको। एकने किया बुरा, तुम कर गये क्षमा, तो बात समाप्त हो गयी। संसारकी निवृत्तिकी रीति दंड नहीं, क्षमा है।

कोई कितना भी अपराध करे, प्रतीकार न करना यह व्यक्तिगत करनेका धर्म है। एक मनुष्य अपने प्रिय व्यक्तिसे मिलने रातमें चला, मार्गमें कुत्ता भूँकने लगा। जिसे प्रिय-मिलनकी शीघ्रता थी, उसने सोचा—'कुत्तेको भूँकने दो, हम चलें।' एक दूसरा चला तो था प्रियसे मिलने ही, किन्तु कुत्ता भूँकने लगा तो वह उसके पीछे दौड़ने लगा। फलतः वह अपने प्रियसे मिल ही न सका।

क्षमा प्रियतमके मार्गमें बढ़नेका साधन है। यह भगवान् देता है। संसारमें रजोगुणी, तमोगुणी अज्ञानी लोग ही अधिक हैं। वे यदि अज्ञानवश कोई अपराध करते हैं तो उनकी समसत्तामें अपनेको ले जाना—जैसे वे हैं, जिस स्थितिमें रहनेके कारण तुम उन्हें गिरा समझते हो, उसी स्थितिमें अपनेको ले जाना—कहाँकी बुद्धिमानी है ? अतः ईश्वरसे क्षमाकी शक्ति लो।

पृथ्वीपर हम मल-त्याग करते हैं, जलमें शव डालते हैं, अग्नि-में कूड़ा जलाते हैं, वायुमें दुर्गन्धि फैलाते हैं, आकाशमें अपशब्द बिखेरते हैं। किन्तु ये कोई क्रोध नहीं करते। मनमें भली-बुरी दोनों बातें आती हैं, बुद्धि भला-बुरा दोनों सोचती है, द्रष्टा आत्मा भले-बुरे दोनोंको प्रकाशित करता है। लेकिन ये कोई क्रोध नहीं करते। पृथ्वीसे परमात्मापर्यन्त सभी क्षमा करते हैं। सब अघोर हैं। अधिष्ठान अच्छे-बुरे दोनों अध्यास ग्रहण किये हुए है। तुम्हारा अहंकार ही क्षमाका विरोधी है। अहंकार अज्ञानका पुत्र है और है दुःखका बाप! इसे त्यागकर क्षमा अपनाओ।

सत्यम्—जैसा अपना अनुभव है, वह चाहे देहसे हो, मनसे या बुद्धिसे, वैसा ही दूसरेके अन्तःकरणमें शब्द द्वारा ज्यों-का-त्यों संचारित करनेका नाम है 'सत्य'।

यदि बोलनेवाला चाहता है कि हम समझते कुछ हैं और यह समझे कुछ, तो वह सत्य नहीं। वक्ताके मनमें यह बात होनी चाहिए कि जैसा अनुभव मेरा है, वैसा ही इसके हृदयमें प्रकाशित हो जाय। ऐसी इच्छासे बोला जानेवाला शब्द 'सत्य' है।

हम कभी-कभी सच बोलते हैं, किन्तु दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए बोलते हैं। ऐसा सत्य जिसमें हित न हो, सत्य नहीं है। वह तो अपने हृदयका विष सत्यमें घोल दिया। सत्यका वर्णन महा-भारतमें यह है :

न सत्यवचनं सत्यं नासत्यवचनं मृषा।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतद् सत्यं मतं मम॥

'ज्यों-का-त्यों किसी बातको कह देनेका नाम 'सत्य' नहीं है और

बातको बदलकर कहनेका नाम 'झूठ' भी नहीं। जिसमें प्राणियोंका परम कल्याण हो, वही वाणी सत्य है।'

जो सत्य होता है, वह ज्ञानके विरुद्ध न हो, यह सब जानते हैं। किन्तु उसे हितके विरुद्ध भी नहीं होना चाहिए और आनन्दके भी विरुद्ध नहीं होना चाहिए। क्योंकि सत्, चित्, आनन्द पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो सत् है, वह चित् है और वही आनन्द है। तुमने सत्को पकड़ा और चित्को छोड़ दिया तो वह झूठ हो गया। सत् और चित्को भी तुमने पकड़ा और आनन्दको छोड़ दिया तो वह असत् हो गया। अतः वही वाणी सत्य है जो सत्को न छोड़े, चित्को न छोड़े और आनन्दको भी न छोड़े।

दूसरेको दुःख देनेके लिए कटु बोलना सत्य नहीं है। इसके लिए आवश्यकमात्र बोले, समयसे बोले, अनावश्यक न बोले और असमय भी न बोले। जैसे : भोजनके समय वमन या विरेचनकी चर्चा न करें। कोई भोजन करने जा रहा है तो कोई मृत्यु-समाचार हो भी, तो उसे भोजन कर लेनेके बाद ही देना चाहिए।

अपने ज्ञानके अनुसार ठीक हो, दूसरेका उससे भला होता हो, बतलाना आवश्यक हो तो थोड़े शब्दोंमें समयसे बतलाया जाय।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

'वाक्य किसीको उद्विग्न करनेवाला न हो, सत्य हो, प्रिय हो और हितकारी हो, ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिए।'

महात्माओंको तो एक ब्रह्म ही सत्य लगता है। व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक सत्य, जातीय सत्य, राष्ट्रिय सत्य, मानवीय सत्य आदि अज्ञानसे मिश्रित होनेके कारण महात्माकी दृष्टिमें उनका मूल्य नहीं।

एकने कहा : 'शिव सर्वश्रेष्ठ है।'

महात्मा : 'तुम्हारा भाव उत्तम है।'

दूसरा : 'विष्णु सबसे बड़े हैं।'

महात्मा : 'हाँ, तुम्हारी निष्ठा आदर्श है।'

तीसरा : 'निराकार ईश्वर ही सत्य है।'

महात्मा : 'तुम्हारी आस्था श्लाघ्य है।'

जहाँ एक सत्य दूसरेसे टकराता है, वहाँ दोनों सत्य नहीं हैं। परमार्थ सत्य दोनोंसे परे हैं। यहाँ 'सत्य'का अर्थ है अपनी वृत्ति सत्यकी रखना; क्योंकि यहाँ भगवान्‌ने अन्तःकरणके भावोंका वर्णन किया है।

जो-जो सत्य समझमें आता जाय, उसे ग्रहण करते जाओ। सत्यको स्वीकार करो। सत्यमें आकार-प्रकार नहीं होता। सत्य आनन्दस्वरूप है। जितने आकार-प्रकार हैं, सत्य उनसे न्यारा है। सत्यमें जब हम अपने लिए बँटवारा कर लेते हैं, तब वह दुःख देता है। मृत्युको ही लें! संसारमें माँ-बाप, पत्नी-पुत्र या पति क्या रोज-रोज नहीं मरते? 'यह मेरा' करके ही दुःख होता है। क्या संसारमें आग नहीं लगती? लेकिन जब कहीं 'मेरे'में लगती है, तब दुःख होता है।

सुख या दुःख मनमें आता है। बाहरसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं। किसीके मिलने-बिछुड़ने, मरने-जानेसे सुख या दुःख नहीं होता। अतः मनीरामको सत्यके साथ जोड़ दो। आकृति मरे तो उसे जादूका खेल देखो।

दमः शमः—इन्द्रियोंको बुरा काम न करने देना 'दम' है और मनमें बुराई आये तो उसे वहीं शान्त कर देना है 'शम'। दमन

बाहर होता है, तो शमन भीतर। इन्द्रियोंको वशमें रखना 'दम' है तो अन्तःकरणको वशमें रखना है 'शम'।

इसमें साधन-भेद और अधिकारी-भेदसे भेद होता है। जैसे गृहस्थ साधक हैं तो सन्तानके लिए पत्नी-सहवास समयपर उसके दममें बाधक नहीं होगा। लेकिन ब्रह्मचारीके लिए दमका अर्थ पूर्ण ब्रह्मचर्य ही होगा, उसमें वह अपवाद नहीं होगा। एक प्रकारकी क्रिया या रहनीका नाम 'ब्रह्मचर्य' नहीं है। जिसके लिए जो विहित है, उसके लिए वही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि शास्त्रोक्त विधि-निषेधके अनुसार ही धर्म होता है।

द्रव्य, क्रिया या भावमें गुण-दोष नहीं होते। उनमें गुण-दोष विहित-निषिद्धकी शास्त्रव्यवस्थासे आते हैं। जैसे प्रान्तोंकी सीमा, समुद्री-सीमा, वायु-सीमा राष्ट्रोंके कानूनसे निश्चित होती है, वैसे ही तत्त्वमें गुण-दोषकी सीमा शास्त्रके कानूनसे निश्चित होती है। वह प्राकृत सीमा नहीं होती।

क्षत्रिय जबतक यज्ञमें दीक्षित है, उसे शस्त्र लेकर किसीको मारना मना है। यज्ञ हो जाय तो वह शत्रुसे युद्ध कर सकता है। वह उसका 'शम' है कि यज्ञकालमें मनमें शान्ति रखे। उपासना मार्गमें चले तो शम है, 'शत्रुका चिन्तन ही न हो, केवल इष्टका चिन्तन हो।' योगमार्गमें चलें तो कोई चिन्तन नहीं, 'वृत्ति-निरोध' शम है। मनमें कोई इष्टाकार या अनिष्टाकार वृत्ति ही न हो, यह योगका शम है।

सत्यको स्वीकृति देनेके लिए व्यक्तिगत जीवनमें थोड़ी तैयारीकी आवश्यकता होती है। जो ऐन्द्रिय भोगमें फँस जाते हैं, वे

परिस्थितिसे आबद्ध हो जाते हैं। तब वे दुःखी होते हैं : 'इसके बिना कैसे रहेंगे? ऐसा मकान, ऐसा सामान, ऐसी सुविधाओंके बिना कैसे जियेंगे।' यह ऐसा ही है, जैसे बगीचेमें लगाये फूलके पौधे सोचें—'जंगलमें फूल होते ही नहीं।' अतः ऐन्द्रियक भोगके प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इन्द्रियोंके भोगमें सुख है, यह बहुत बड़ा भ्रम है।

जबतक बात मनमें रहे, मनको समझाना चाहिए, पर जब दोष क्रिया बनने लगे तो दंड देकर भी रोकना चाहिए; जब वह आक्रमण करे तो उसे दण्ड देना ही चाहिए।

चतुर्थस्योदितं दमः—'साम' अर्थात् समझानेसे काम न चले तो दूसरा उपाय है 'दान', कुछ दे-लेकर मनायें। इससे भी काम न चले तो 'भेद' डालें और उससे भी काम न चले, तो चौथा उपाय है, 'दंड'।

ये इन्द्रियाँ शत्रु हैं। उपेक्षा कर देनेसे ये बलवान् हो जाती हैं। इनकी जब जड़ जम जाती है, स्वभाव बिगड़ जाता है, तब ये नहीं मानतीं :

रिपु सन दया परम कदराई।

जो अन्तःशत्रुको दण्ड देनेको सदा तत्पर रहता है, वही बाह्य शत्रुको दण्ड दे सकता है। जो अन्तःशत्रुको दण्ड नहीं देता, उसे बाह्य शत्रुको भी दण्ड देनेका अभ्यास छूट जाता है।

जब शत्रु बलवान् हो तो सहायता लेनी पड़ती है। दमनमें कालकी सहायता है—आज एकादशी, अमावस्या, संक्रान्ति है; आज ऐसा काम नहीं करना चाहिए। देशकी सहायता है—यह तीर्थ है,

मन्दिर है, पवित्र स्थान है; यहाँ ऐसा काम नहीं करना चाहिए। व्यक्तिकी सहायता है—मैं ऐसे उच्च वंशमें, उच्च वर्णमें हूँ; मुझे ऐसा काम नहीं करना चाहिए। क्रियाकी सहायता है इन्द्रियोंको रोकनेके उपाय। सत्संगका सहारा लो। आहारशुद्धि, कर्मशुद्धि, भावशुद्धि, विचारशुद्धिको सहायक बनाओ। स्थितिकी शुद्धि करो कि 'मैं इतनी देर इन्द्रियोंकी ओर ध्यान नहीं दूँगा।'

दमनं दमः, शमनं शमः—दमनमें दण्डका भाव है। दण्डसे जिसकी शोभा हो, वह दम है। इसमें बल लगाकर दबाना है। शममें शान्ति-समझौतेका भाव है। शान्तिसे जिसकी शोभा हो, वह है शम। शासक उपद्रवका 'दमन' करते हैं और सभामें कोला-हल हो तो समझाकर उसका 'शमन' किया जाता है।

आपके नेत्र रूपमें जाकर फँस जायँ कि इसे देखे बिना नहीं रहा जाता, तब नेत्रका दमन करना होगा—बलपूर्वक उन्हें हटा लेना होगा। अपने मनको रूपसे निकालकर नेत्रमें ले आओ। देखो कि क्या वह रूप अपने नेत्रसे सुन्दर है। नेत्र न हों तो रूप किस कामका?

योगमें इसीको 'प्रत्याहार' कहते हैं। यहाँ नेत्रके लिए नेत्रके चिन्तनकी आवश्यकता नहीं है। यह तो अपने हृदय—अपने स्वरूपकी ओर उन्मुख होनेका मार्ग है। तुम बाहर विश्वसुन्दरी देखनेकी इच्छा करते हो, पर तुम्हारे हृदयसे सुन्दर और कुछ नहीं है। अपने हृदयके सौन्दर्यको देखोगे तो संसारका सौन्दर्य ऐसा लगेगा, जैसे शिवके शरीरपर श्मशानकी विभूति।

इन्द्रियोंके दमनकी प्रक्रिया यह है कि आप अपनी इन्द्रियोंको सिकोड़ें, विषयका सौन्दर्य न देखकर अपनी इन्द्रियोंका सौन्दर्य

देखें। इन्द्रिय-सौन्दर्य न देखकर अपने हृदयका सौन्दर्य देखें। हृदयमें प्रेमरस ही हृदय-कमलका मकरन्द है। हृदयमें ज्ञान उसकी चमक है। प्रेम इसका सौन्दर्य और सद्भाव इसकी सुगन्ध है।

धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं तु शोभनम्।

'धर्मकन्दसे उत्पन्न, सुशोभन ज्ञाननालवाला यह हृदयकमल है।' इसपर तुम्हारा प्रियतम बैठता है।

इन्द्रियोंको बलपूर्वक भी रोकना—दम है : किन्तु मनको समझाना पड़ता है। मनके लिए शम है।

वेदान्तमें 'शम-दम' षट्सम्पत्तिमें गिने गये हैं। श्रुति कहती है :

शान्तो दान्तोपरतस्तितिक्षुः समाहितः
श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्।

'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, और समाहित, श्रद्धा धनवाला बनकर अपने आपमें अपने आपको देखें।'

गीतामें 'दम-शम' यह क्रम है तो श्रुतिमें 'शम-दम' क्रम। जो लोग चरित्र शुद्ध करके उपासनासे 'तत्'-पद-लक्ष्यार्थकी प्राप्तिका निश्चय कर चुके हैं और वेदाभ्याससे आत्मपदार्थका शोधन कर चुके हैं, महावाक्य उनको तत्-पद-लक्ष्यार्थ और त्वंपद-लक्ष्यार्थकी एकताका उपदेश करता है। अतः वेदान्तमें स्थिति यह होगी कि जब हृदय शान्त हुआ, कामकी निवृत्ति हो गयी, तब इन्द्रियाँ स्वतः शान्त हो गयीं। यहाँ शान्ति मिलनेसे 'दान्ति' स्वाभाविक है। यहाँ कहा जायगा—'शान्तः, अतएव दान्तः।' उसका मन पहले धर्मानुष्ठान, ईश्वरोपासना, योगाभ्यास, आचार्यप्रसाद, और गुरुकृपासे शान्त हो

चुका है; अतः वह दान्त है—उसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं। वह योगारूढ है।

लेकिन जब एक साधक नीचेसे ऊपरकी ओर चलता है तो उसे पहले दान्त होना पड़ता है, तब वह शान्त होता है। साधक पहले अपनी इन्द्रियोंको वशमें करता है।

पहले लोभ था कि सम्पत्ति इतनी बढ़े। लेकिन संन्यास ले लिया तो अब हिसाब लगानेकी आवश्यकता नहीं। इन्द्रियोंकी शान्ति मनकी शान्तिका साधन है। मनकी शान्तिका स्वाभाविक परिणाम है इन्द्रिय-शान्ति।

धर्ममें कर्ता इन्द्रियोंका दमन करता है। उपासनामें ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है। योगमें अभ्याससे चित्तवृत्तिका प्रतिगामी परिणाम होता हैं, तब शान्ति स्वयं हो जाती है।

धर्ममें निषिद्ध कर्म न हो, इतना ही 'दम' है। निषिद्ध भाव मनमें न आये, इतना ही 'शम' है, विहित भोग और विहित काम-क्रोध वहाँ दोष नहीं हैं। उपासनामें सब 'ईश्वरकी प्रसन्नता' के लिए ही होना चाहिए। योगमें 'सब वृत्तियाँ शान्त' करनी पड़ती हैं, तो वेदान्तमें 'सबका बाध' करना पड़ता है।

'श्रम'का रूप बदल गया तो 'शम' बन गया। शममें न श्रम है, न 'रमण' और न 'रण' है! एक मनुष्य झूठ बोलता है, चोरी करता है, हिंसा करता है तो उसके मनमें शम नहीं हैं। सत्य बोलता है तो अचौर्यसे रहता है और अहिंसाका पालन करता है तो उसके मनमें शम रहता है।

दूसरेके हकका उसकी बिना अनुमतिके ले लेना 'स्तेय है और

अपनी आवश्यकतासे अधिक एकत्र करना है 'परिग्रह'। स्तेयके लिए अस्तेय और परिग्रहके लिए अपरिग्रह साधन हैं। ये स्तेय और परिग्रह दोनों आते हैं लोभसे। लोभका सामना करनेके दो साधन हैं: अपरिग्रह और अस्तेय, जैसे असत्यका सामना सत्यसे, हिंसाका अहिंसासे और कामका ब्रह्मचर्यसे किया जाता है।

इसमें सुगमता यह है कि सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अस्तेय मनकी शान्तिके ही नाम हैं। चित्तके विक्षेप नाना हैं। स्त्री-पुरुषको लेकर काम, धनको लेकर लोभ तो शत्रुको लेकर हिंसा आयेगी। ये पृथक्-पृथक् हैं: किन्तु इन सबकी निवृत्ति शान्ति है। इसमें मनमें कोई विषय नहीं रहता है। मनका पेट खाली कर देना ही शम है। मनके पेटमें कोई विषय आया कि शान्ति मिटी। अतः शमका अर्थ है 'मनको विश्राम देना।'

यदि आप अपने सेवकको सदा काममें लगाये रहें तो वह विक्षिप्त हो जायगा। कपड़े फाड़ेगा, बर्तन तोड़ेगा। स्वामीका कर्तव्य सेवकको काम और विश्राम दोनों देना है। वैसे ही मनको भी काम और विश्राम दोनों देना चाहिए। जिसे मनको विश्राम देना नहीं आता, उसका मन पागल होकर अनर्गल भूत एवं भविष्यकी अनावश्यक बातोंकी चिन्ता करता है।

इन्द्रियोंके दमनकी शक्ति और मनकी शान्ति ईश्वरकी कृपासे प्राप्त होती है।

भगवान्‌से ही आते हैं—

४. सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय

सुखं दुःखम्—सुख-दुःख स्वसंवेद्य हैं, इसीलिए पाणिनिने इनका कोई अर्थ नहीं किया। उन्होंने कहा : सुख-दुःखं तत् क्रियायाम्। सुख हो तब सुख, दुःख हो तब दुःख।

'सुष्ठु खं यस्मिन् तत्सुखम्' अर्थात् जिसमें हृदयाकाश निर्मल हो वह सुख।

'दुष्टं खं यस्मिन् तद्दुःखम्' यानी जिसमें हृदयाकाश काम-क्रोध, लोभ-मोह, शोक-ग्लानि आदिसे दूषित हो जाय, वह दुःख। यदि हृदयमें कामकी आँधी, लोभकी बाढ़, क्रोधकी आग या मोहकी बेड़ी है तो दुःख है।

वस्तुतः वासना ही दुःख है। जो हम चाहते हैं, वह हो तो सुख और न हो तो दुःख। वासना ही अपने मनमें राग-द्वेष, सुख-दुःख उत्पन्न करनेकी भूमि है। जिसे कहीं जाना नहीं, उसे जिधर चलनेको कहें, चलता रहेगा। जीनेकी वासना है तो मरनेमें दुःख है। मरनेकी वासना है तो जीनेमें दुःख है। अतः महात्मा कहते हैं :

'निवृत्तवासनां मौनादृते नास्ति परं पदम्।

'वासना-हीन मौनके अतिरिक्त और कोई परम पद नहीं है।

'सुष्ठुखानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तत्सुखम् ।' अर्थात् जिसमें इन्द्रियाँ प्रफुल्लित हों, वह सुख है। 'दुःनिन्दितानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तद्दुःखम् ।'

अर्थात् जिसमें अपनी इन्द्रियाँ निन्दित पथमें लगें, वह दुःख है।

एक प्रज्ञाचक्षु महात्माने बतलाया : 'जब नेत्र गये थोड़े दिन हुए थे, मार्गसे जा रहा था। एक बैलगाड़ी सामनेसे आयी। बैलका धक्का लगा। गिर पड़ा, चोट लगी, दुःख हुआ। इतनेमें एक बुढ़िया घरसे निकली। उसने गाड़ीवानको खूब फटकारा कि 'वह बेचारा तो अन्धा है, पर तू तो देखता है, तूने गाड़ी बचाकर क्यों नहीं निकाली।' सुख हुआ कि कोई तो गाड़ीवानको फटकारनेवाला निकला। आगे चला तो एक पेड़से टकरा गया। फिर गिर पड़ा, चोट आयी। मनमें आया—अब कोई किसे फटकारेगा ?'

वस्तुतः जब हम सुख-दुःख देनेवाला बाहर मानते हैं, तब सुख देनेवालेसे राग और दुःख देनेवालेसे द्वेष होता है। यदि समता पर दृष्टि रखें, सब कहीं उसी प्यारेका हाथ दीखे तो कहीं राग-द्वेष नहीं होगा।

गीतामें सुख भी त्रिविध बतलाया है। निद्रा, आलस्य और प्रमादका सुख 'मोहनमात्मनः' अपनेको मोहमें फँसा लेनेवाला है। अपनेको बेहोश कर लिया, यह तमोगुण है। 'आलस्य' यह कि स्वयं कुछ न करना-चाहना। 'प्रमाद' संसारमें किसी पर ऐसा भरोसा कर लेना कि यह हमारा सर्वदा निर्वाह करेंगे, हमें सुख देता रहेगा। वह व्यक्ति निष्ठुर बन सकता है, मर सकता है, बिछुड़ सकता है। अतः एक मनुष्यपर भरोसा कर लेना बुद्धिका प्रमाद है।

मूढ़ावस्थापन्न वह है जो हड्डी, मांसके शरीरमें 'मैं' करके बैठ गया। शरीरका ही ध्यान—आराम सब कुछ हो गया।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥
—१८.३९

'जो प्रारम्भमें और परिणाममें भी अपनेको मोहमें डालनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य, प्रमादसे होनेवाला सुख तामस कहा गया है।'

दूसरा सुख राजस सुख है :

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
—१८.३८

'विषयोंके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला वह सुख जो पहले अमृतके समान जान पड़ता है; किन्तु जिसका परिणाम विषके समान है, वह राजस कहा गया है।

भोगका अभ्यास हो जानेसे मन बहुत दुःखी हो जाता है। भोग नहीं मिलता तो दुःख होता है, मिलनेपर अभिमान होता है, मिलकर चला गया तो दुःख होता है कि 'हमारा ऐसा घर, ऐसा वैभव था।'

जो लोग विषयेन्द्रिय-संयोगसे जन्य ऐसे सुखमें आसक्त होते हैं, ये बहुत दुःखी हो जाते हैं। जिसे अमृत समझकर स्वीकार किया, वह विष बन गया। भोग से राग बढ़ता है। जितना भोग मिलता

है, उतनी तृष्णा बढ़ती है—'और चाहिए, और चाहिए।' यह अधिकाधिक बाँधता—अधिकाधिक गिराता है।

सात्त्विक सुख यह है कि जीवनमें अच्छे अभ्यास डालो। अपना आत्मा शुद्ध है। उसको विरोधी है विषयासक्ति। अपनेको शुद्ध जानकर आत्मरत, आत्मक्रीड हों। इसका ठीक विरोधी है देहाध्यास—देह-इन्द्रियोंकी आसक्तिमें पड़ जाता। जैसे सदंशका विरोधी विष है, शरीरको मारनेवाला है, वैसे ही चिदंशका विरोधी वुद्धिका मोहमें पड़ जाना है। यह भोगाभ्यास ऐसे नहीं छूटता—

> यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
> तावदेव तेष्वखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

'मनुष्य मनको प्यारी लगनेवाली जितनी वस्तुएँ संसारमें चाहता है, उतने शोकके शूल हृदयमें गड़ते जाते हैं।'

वंश बढ़ रहा है, परिचय बढ़ रहा है, मित्र बढ़ रहे हैं; किन्तु जितने बढ़ेंगे, उतने अधिक मरेंगे—बिछुड़ेंगे। एक सम्बन्धी या मित्र बढ़ाओ तो एक वियोग, एक रोगी, एक मृत्यु बढ़ो। इसलिए कैवल्य श्रेष्ठ है।

संसारमें जो सुख है, कैसा है? बिना परिश्रमके जो सुखी होनेका प्रयत्न करते हैं, उनका सुख अधूरा है।

> अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
> यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
> तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥'

—१८।३६-३७

'जिसमें अभ्यासके कारण रमता है और उससे दुःखका अन्त प्राप्त करता है, जो पहले विषके समान लगता है; किन्तु परिणाममें अमृतके समान है, वह अपनी बुद्धिकी निर्मलतासे होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है।'

आत्माकार-बुद्धिके प्रसादसे जो सुख मिलता है, वह सुख सात्त्विक है। सुख बुद्धिप्रसाद, मनःप्रसाद, इन्द्रियप्रसाद या विषय-प्रसाद नहीं है। सुख आत्मबुद्धिप्रसाद है। जब चित्तवृत्ति संसारमें भटकना छोड़कर आत्माकार होती है और वासना त्यागकर मन शान्त होता है, तब उस समय सात्त्विक सुखका उदय होता है। यह चाहे धर्माभ्याससे हो, चाहे उपासनासे, चाहे योगाभ्याससे।

जो सुख अभ्याससे उत्पन्न होता है, वह अपनी मेहनतका फल है। मार्गमें पड़ा पैसा पाकर कोई धनी नहीं हो सकता। अपने परिश्रमसे जो कमाते हैं, उनका धन सात्त्विक है। भले पाँचवें-छठें दिन कदन्न खाकर रहना पड़े; परन्तु सिरपर कोई ऋण न हो, पराये घरमें रहना न पड़े, तो वह आनन्द पाता है।

सुषुप्तिमें कभी किसीको दुःख नहीं होता। जब दुःख होगा तो संयोग-वियोगमें, जाग्रत्‌में अथवा स्वप्नमें और वह भी अपनी कल्पनासे होगा। इसका अर्थ है कि जहाँ सबका त्याग है, वहाँ दुःख नहीं है। जहाँ जाग्रत्-स्वप्नके सारे दृश्य छोड़ दिये गये, वहाँ दुःखका नामोनिशान नहीं है। स्वप्न या जाग्रत्‌के दृश्योंको पकड़ रखना, उनमें फँस जाना ही दुःख है।

मनुष्य खूब रोगी हो, निर्धन हो, अपमानित हो, वियोग हो; किन्तु नींद आजाय तो सब दुःख लुप्त हो जाता है। दुःख बहुत छिछले स्तरपर, स्वप्न या जाग्रत्‌में घूमा करते हैं। सुषुप्तिकी गह-

राईमें दुःखकी सत्ता ही नहीं है। 'मैं दुःखी हूँ' जिसे यह अभिमान नहीं है, उसे दुःख कभी छू नहीं सकता। सुख-दुःख दोनों साक्षी-भास्य हैं, आभासभास्य नहीं।

मेरे गाँवमें एक व्यक्तिने स्वयं अपना अंग अपने हाथसे काटकर पुलिसमें रिपोर्ट दी : 'अमुक व्यक्तिने मेरा अंग काट दिया।' जाँच हुई। लोगोंने बतलाया : 'इसने स्वयं काटा है।' अब स्वयं अंग काटनेमें दुःख कहाँ? दुःख तो हुआ उसे शत्रुको दंड न मिलनेपर। अतः दुःखकी स्वीकृतिमें ही दुःख है। दुःख मनकी एक संवित् है। सुषुप्तिसे उठनेपर स्मृति होती है : 'मैं सुखसे सोया। कुछ पता नहीं लगा। यह स्मृति बतलाती है कि सुषुप्तिमें भी सुख है। सुख तो आत्माका स्वरूप है और सुषुप्तिमें आनन्दस्वरूप आत्मा तो था ही।

जहाँ तुम होगे, वहीं सुख होगा। तुम्हारी उपस्थिति ही सर्वो-त्तम सुख है। सुख साक्षीभास्य भी नहीं, साक्षीका स्वरूप है। जैसा सुख अप्रयाससे सुषुप्तिमें होता है, वैसा ही समाधिमें प्रयाससे बनाया जाता है। जैसे सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि काम नहीं करतीं, वैसे ही समाधिमें अभ्यास करके इनका निरोध किया जाता है। उत्पाद्य सुषुप्तिका नाम 'समाधि' है। सुषुप्तिमें तमोगुणसे इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, निरुद्ध हो जाती है। बुद्धि उस समय परमात्मा-की गोदमें ही होती है किन्तु अज्ञानाक्रान्त होनेसे मानव जानता ही नहीं कि मैं परमात्माके पास हूँ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेनः गुरुणाऽपि विचाल्यते॥

तं विद्याद्दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ॥
—६।२१-२३

'जो आत्यन्तिक सुख है, वह अतीन्द्रिय है; किन्तु बुद्धिग्राह्य है। जिसे जानता है तो उसमें स्थित हुआ तत्त्वसे विचलित नहीं होता और उसमें स्थित होकर भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता। उसे पाकर उससे परे और कोई लाभ उससे बड़ा नहीं मानता, उसे दुःख-संयोगसे वियोगरूप योग मानो। स्थिर चित्तसे निश्चयपूर्वक उस भोगको करना चाहिए।'

ऐसा सर्वोत्तम, स्थायी सुख पानेके लिए योग करना चाहिए। 'अनिर्विण्ण चेतसा'—उससे ऊबना नहीं चाहिए। उसमें जल्दी नहीं करना चाहिए। जन्म-जन्मके संस्कार पड़े हैं, वे धीरे-धीरे ही दूर होंगे।

एक जगह ९ से १० बजे तक कथा होती थी। बहुत-से श्रोता पौने दस बजेके लगभग खा-पीकर आते और फिर पीछे मुड़-मुड़कर घड़ी देखते, दुकानमें जानेकी उन्हें जल्दी होती थी। ऐसे ही जो भजनमें जल्दी करते हैं, उन्हें कहीं-न-कहीं जानेकी जल्दी होती है।

आत्न्यितकम्—जो कालसे न कटे, जिसका अन्त न हो अर्थात् अविनाशी। बुद्धिग्राह्यम् जिसके लिए कहीं जाना न पड़े, देशसे अपरिच्छिन्न। अतीन्द्रियम्—इन्द्रिय-विषय संयोगकी आवश्यकता नहीं, अर्थात् विषयपरिच्छेद-रहित, वह सुख ही वास्तविक सुख है जो अभी, यहीं, बिना बाह्य पदार्थके शाश्वत रहता है।

साधारण लोगोंकी धारणा है कि सुख-दुःख बाहरसे आता है। एक दिन मैं जंगलमें एकान्तमें बैठा था। लगता था—मार्ग भूल गये हों। एक आदमी दूरसे आता दीखा, कल्पना हुई—'लुटेरा न हो।' डर लगा। उसके आनेसे यह दुःख हो रहा है। समीप आकर उसने पूछा—'तुम वनमें अकेले कैसे बैठे हो? मार्ग भूल गये हो? चलो, हम बतला दें।'

लगा—वह तो हमारी सहायता करने आया है, सुख हो गया। वह मनुष्य तो ज्यों-का-त्यों रहा। उसके प्रति जब प्रतिकूलताकी भावना थी, तब दुःख हो रहा था, जब अनुकूलताकी भावना हुई, तब सुख हुआ। सुख-दुःखका उदय अपनी भावनासे होता है।

जब किसीके मनमें भाव बनता है—'सब मेरे शत्रु हैं, सब लोग मुझे ठगना—लूटना चाहते हैं, ईश्वर भी मुझे दुःख ही देता है, गुरु भी ठग ही लेगा' तब उसके दुःखका कहीं अन्त नहीं होता। यदि भावना हो—'ईश्वर मेरा सहायक है, संसारमें कोई मेरा अहित नहीं करना चाहता' तब मनुष्य सुखी हो जाय। अतएव न्याय-दर्शन कहता है—'सुख-दुःख धन या भोगसे मिलनेवाली वस्तु नहीं है।'

जब धनसे सुख मिलनेकी सम्भावना होती है, तब धन सुखद लगता है। जब धनसे कष्ट होनेकी सम्भावना होती है, तब धन भयावह लगता है। स्वर्ण-नियन्त्रण कानून बना तो कई लोगोंने अपनी सम्पत्ति फेंक दी। पकड़े जानेका अवसर आनेपर चोर धन फेंक देते हैं। अपने घरके व्यक्तिसे दुःख या रोग मिलनेकी सम्भावना होनेपर लोग उन्हें छोड़ देते हैं।

एक क्षेत्र-सुख है। इच्छाद्वेषः सुखं-दुःखं सङ्घातश्चेतना-धृतिः यह जो क्षेत्रमें सुख है, वह सुषुप्ति और समाधिमें अभिव्यक्त होता है।

चोरके पास चोरीकी घड़ी पकड़ी जाय तो उसे दुःख होगा। समय जाननेके लिए घड़ी पास है तो उससे सुख होता है। दुष्ट व्यक्तिकी मृत्युसे लोगोंको सुख और सज्जन पुरुषकी मृत्युसे दुःख होता है। अब घड़ी या मृत्यु सुख है या दुःख? कभी रोगसे भी सुःख होता है और वियोगसे सुख होता है। कभी किसी के मिलनेसे दुख होता है। कभी रोग मिटनेसे भी दुःख होता है। अब धन, रोग, वियोग, मृत्यु, ये सुख या दुःख नहीं हैं। जहाँ हम सुखीपनेका अभिमान कर लेते हैं, वहाँ दुःख है। अभिमानरूप होनेके कारण सुखीपना-दुःखीपना दोनों आभास हैं। इस आभासका साक्षी इनसे न्यारा है।

सुखम्—सच्चा सुख इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, क्योंकि विषय चला जा सकता है या इन्द्रिय-शक्ति नष्ट हो सकती है, मनमें अरुचि हो सकती है, मूर्च्छा आदि आ सकती है। बुद्धिग्राह्य होनेसे सच्चा सुख तामस 'मोहनमात्मनः' नहीं है। सात्त्विक सुख अभ्यास है, किन्तु अभ्यास छूट जानेपर नष्ट हो जायगा। अतः वह भी आत्यन्तिक नहीं है। सच्चा सुख न तामस—मोहन होगा, न राजस—विषयेन्द्रिय संयोगज, न सात्त्विक—अभ्यासज होगा। वह स्वाभाविक होगा। क्षेत्र सुख ही सात्त्विक, राजस, तामस हो सकता है। साक्षीसे मिला सुख विविक्त सुख है।

साक्षी यदि अपनेको देश, काल वस्तुसे विविक्त नहीं जानता तो उसका सुख भी नाशवान् होगा। गीतामें 'ब्रह्म संस्पर्श' को आत्यन्तिक सुख कहा है—

'ब्रह्मसंस्पर्शमात्यन्तं सुखमश्नुते।'

भगवान् कहते हैं कि—'मनुष्यके भीतर बैठा मैं ही सुखको प्रकाशित करता रहता हूँ। मैं ही सुखके रूपमें प्रकाशित होता रहता हूँ।'

इस विषयमें अनेक दृष्टिकोण हैं :

१. कर्मके फलसे जैसा जिसका कर्म है, उसके अनुसार उसे सुख-दु:ख मिलता है।

२. प्रकृतिमें सुख-दु:ख अपने आप होता है।

३. कर्मानुसार ईश्वर सुख-दु:ख देता है।

४. इन्द्रियोंके विक्षेपसे दु:ख होता है और इन्द्रियों एवं वृत्तियों-के शान्त हो जानेपर स्वरूपभूत सुख चमकता है।

५. अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर अनन्त परिपूर्ण अविनाशी, अद्वितीय प्रत्यक्चैतन्याभिन्न सुख ही सुख है, इसका बोध हो जाता है।

सुखं-दु:खम्—सुख देनेवाले भगवान् हैं और दु:ख देनेवाले भी वही हैं।

श्री हरिबाबाजी महाराज एक बार बरसाने गये। वहाँ उनसे सौ-सवा-सौ वर्षकी आयुके एक सन्त मिले। श्री हरिबाबाजीका स्वभाव था सन्त-चरित जानना। भक्त-सन्त-चरित प्रतिदिन पढ़ते, सुनाते थे। एक सन्तसे उनका चरित पूछा तो उन्होंने सुनाया :

'मैं व्यभिचारिणी माँका पुत्र था। जब दस वर्षका हुआ तो माँ और उसके जारने मुझे मार देनेका निश्चय किया, क्योंकि मैं

उनके सम्बन्धमें बाधक था। शर्बतमें माँने विष मिलाया और वह पुरुष मुझे पिलाने आया। शर्बत देते समय उसका हाथ काँपने लगा। बोला : 'इसे मत पिओ। इसमें तुम्हारी माँने विष घोला है।'

मैंने कहा : 'जिस माँने मुझे दस महीने पेटमें रखा, अपना दूध पिलाकर पाला, यदि उसके हाथका दिया यह विष है तो मेरे लिए अमृतसे बढ़कर है।' मैं उसे पी गया, मरा तो नहीं, पर घर छोड़कर निकल गया।

परमात्मा जब सुख देता है तब प्रसन्न होते हो और जब दुःख देता है तो रोते हो, यह क्या प्रेम है? जिसने जीवन दिया, देह दी, स्वास्थ्य दिया, सुख दिया, उसीके हाथों रोग या मृत्यु आती है तो वह प्रिय होनी चाहिए।

जो इस बातको समझ जाता है कि पत्ता-पत्ता उसीकी सत्तासे हिल रहा है, सब उसके संकल्पसे उसीमें हो रहा है, सब वही है, क्या वह कभी परमात्मासे बिछुड़ेगा?

एक महात्मा कहते थे : 'जो छूट जाय, वह परमात्मा नहीं।' परमात्माके छूटनेका भ्रम ही होता है। जगत् कभी पकड़में नहीं आता और न परमात्मा कभी छूटता है।

सुख-दुःख दोनोंकी वृत्तियाँ अन्तःकरणमें होती हैं। जाग्रत् या स्वप्नमें होती हैं। सुखाकार वृत्ति या दुःखाकार वृत्ति और इनका अभिमान सुषुप्तिमें नहीं रहता। सुषुप्तिमें सुख साक्षीसे अभिन्न होकर रहता है। वह सुख साक्षीका स्वरूप है, किन्तु अभिमान-मिश्रित होनेसे उसकी ब्रह्मता नहीं भासती।

अवोऽभावः : कोई-कोई 'भवाभाव' पाठ भी मानते हैं। भव=जन्म और अभाव=मृत्यु।

नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः।

'असत्का भाव नहीं हुआ करता और सत्का अभाव नहीं होता।'

जैसे आनन्दस्वरूप परमात्मामें सुखाकार और दुःखाकार वृत्ति विवर्त हैं, वैसे ही सन्मात्र परमात्मामें जन्म-मृत्यु दोनों विवर्त हैं।' आनन्दमात्रके विवर्तकी दृष्टिसे सुख-दुःखका वर्णन किया गया, अब सन्मात्रके विवर्तके दृष्टिसे 'भवोऽभावः' कहा। उस सन्मात्र परमात्मामें कभी जन्म प्रतीत होता है तो कभी मृत्यु।

'भवनं भवः'—किसी वस्तुका अस्ति-रूपमें प्रतीत होना जन्म है। और 'अभावः'—किसी वस्तुका नास्तिके रूपमें अनुभव होना मृत्यु है। संसारमें प्रतीत होता है कि कोई वस्तु है या नहीं है। मिट्टीमें कल्पित घड़ेका आकार बन जानेका नाम उसका जन्म है और उस आकारके मिट जानेका नाम घड़ेकी मृत्यु है। इसमें मिटा क्या? घड़ेका रूप और उसका नाम। मिट्टी तो ज्यों-की-त्यों रही। इसी प्रकार संसारमें जितने आकार बनते और जितने नाम रखे जाते हैं, वे सब नाशवान् हैं।

जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति।

—'उत्पन्न होता है, रहता है, बढ़ता है, बदलता है, क्षय होता है, नष्ट हो जाता है' ये छह विकार सब पदार्थोंमें लगे हैं। घड़ा बना, घड़ा है यह मालूम पड़ा, घड़ा बढ़ा-पका, धीरे-धीरे बदलने लगा, क्षीण होने लगा और फूट गया! यह देह भी घट ही है। आकृति-विशेषका नाम घट है। अनन्त परमात्मामें आकृति दीख रही है।

उत्पत्तिः ऊर्ध्वंपतनम्—जो वस्तु भीतर छिपी थी, वह बाहर आ गयी, इसीका नाम उत्पत्ति है। सत्य वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। मिथ्या वस्तुकी भी उत्पत्ति नहीं होती। वन्ध्या-पुत्रका न जन्म है, न मृत्यु। ब्रह्मका भी न जन्म है, न मृत्यु। तब जन्म किसका? सत्का भी जन्म-मरण नहीं और असत्का भी जन्म-मरण नहीं। अतः सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयका ही जन्म-मरण है। 'है' कहो तो अखण्ड परमात्मामें दूसरी वस्तु हो नहीं सकती और 'ना' कहो तो दीखती है।

है कहो तो है नहीं, नहीं कहो तो है।
है-नाहीं के बीचमें, जो कुछ है सो है॥

यह मत देखो कि कौन जन्मता और कौन मरता है। यही देखो कि जन्म-मरण किसको प्रतीत होता है। स्वप्नमें पचीस वर्षका पिता और पांच वर्षका उसका पुत्र एक साथ उत्पन्न हुए। स्वप्न टूटा तो दोनों एक साथ मर गये। स्वप्नमें दोनों एक साथ मालूम पड़ते थे। भीतर बैठे अन्तर्यामीको मालूम पड़ते थे।

तुमने अपना न जन्म देखा, न मरण देखा। बिना देखे इनकी कल्पना करते हो। यदि देखा है तो तुम्हारा जन्म-मरण हुआ ही नहीं, क्योंकि जन्म या मरण देखते हो तो उस समय तुम रहते हो! अपनी मृत्युका अनुभव सम्भव ही नहीं। जन्म-मृत्यु तो मालूम पड़ते हैं। इस नाटकको दिखलानेवाला परमात्मा ही है।

बौद्ध मानते हैं: "जगत् 'प्रतीत्य-समुत्पाद्य' है। न कोई कुम्हार है, न घड़ा। वह शून्यमें प्रतीत हो रहा है। जब वह प्रतीत होने लगता है, तब लोग उसकी उत्पत्ति मानते हैं।"

चार्वाक कहते हैं : 'जगत्के उपादान चार भूत—मिट्टी पानी, आग और हवा हैं। लेकिन इसका निमित्तकारण कोई नहीं है।'

जैन कहते हैं : इसका निमित्तकारण भी है और उपादान कारण भी।'

न्याय-वैशेषिक जगत्का कारण परमाणु मानते हैं। सांख्य और योग-दर्शन प्रकृतिको जगत्कारण मानते हैं। पूर्वमीमांसक जगत्का कारण कर्म मानते हैं।

वेदान्तदर्शन कहता है : 'जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण परमात्मा है।'

इसमें भी कई मत हैं। एक परमात्माको अविकृत-परिणामी मानते हैं। 'अद्वैत-वेदान्त' परमात्माको विवर्ती कारण मानता है।

संसारमें कितनी वस्तुएँ बन रही हैं, कितनी ही मिट रही हैं। यह कौन कर रहा है? वही ईश्वर है। इसे समझ जाओ तो ईश्वरसे कभी वियोग नहीं होगा।

भक्त कहते हैं : 'ईश्वरकी अप्राप्ति भक्तिके अभावसे है। वह छिपा है। भक्ति करो तो प्रकट हो जायगा।' लेकिन हम उसे पहचानते नहीं। पहचान लें तो उसका वियोग मिट जाय। ज्ञान और भक्तिमें यही मौलिक अन्तर है।

भयं चाभयमेव च—भय भी वही परमात्मा देता है और अभय भी। डरानेमें सदा द्वेष ही नहीं होता। माँ भी बच्चेको कभी-कभी डराती है। चोर, डाकू और शत्रु भी डराते हैं; किन्तु दोनोंके डरानेमें अन्तर होता है। अतः देखो यह कि डरानेवाला कौन है।

श्री नामदेवजी यात्रा कर रहे थे। मार्गमें लम्बा, भयंकर भूत दीखा। लेकिन संतने डरानेवालेको पहचान लिया, तो अविकम्प-योग हो गया।

नामदेव बोले : 'मेरे स्वामी! आपको ऐसा रूप भी रखना आता है? भले बने हो लम्बकनाथ। आया था भूत डराने; किन्तु उसमेंसे निकला परमात्मा!

नामदेवजी गंगोत्तरीसे गंगाजल भरकर रामेश्वर ले जा रहे थे। मार्गमें मरुस्थलमें प्याससे छटपटाता गधा मिला। नामदेवने गंगाजल उस गधेको पिला दिया, पर उसमेंसे निकला कौन? परमेश्वर।

भोजन बनाया तो कुत्ता रोटी लेकर भागा। नामदेव घीका बर्तन लेकर पीछे दौड़े : 'प्रभु! सूखी मत खाओ, घी चुपड़ लेने दो।' कुत्तेसे परमेश्वर निकला।

आकृतिपर मत जाओ। नाम-ठाममें मत फँसो। एक पार-दर्शिनी दृष्टिकी जरूरत है। नाम-रूपका पर्दा फाड़कर जो भीतर छिपा बैठा है, उसे देखो।

पानीके जहाजमें एक यूरोपीय दम्पती यात्रा कर रहे थे। अचा-नक समुद्रमें भयानक तूफान आ गया। जहाजमें खलबली मच गयी। सब डर रहे थे; किन्तु वह पुरुष शान्त बैठा था। पत्नीने कहा : 'तुम्हें डर नहीं लगता?'

पुरुषने पिस्तौल निकाली, पत्नीकी छातीपर नली लगाकर घोड़ेपर अंगुली रख ली।

पत्नी हँसी : 'यह क्या खेल करते हो?'

पुरुष : 'तुम डरती नहीं हो ?'

पत्नी : 'यह पिस्तौल तुम्हारे हाथमें है तो मैं क्यों डरूँ ?'

पुरुष : 'मैं भी देख रहा हूँ कि यह तूफान मेरे प्रिय प्रभुके हाथमें है ।'

भयके लिए निमित्त देनेवाला परमात्मा है और भयकी वृत्ति देनेवाला भी परमात्मा है । वैद्य कभी-कभी रसायन बनानेके लिए दवाको उबालता है, कभी ठंढी करता है । ऐसे ही ईश्वर मनुष्य-का शोधन करनेके लिए कभी कोई भाव देता है, कभी कोई-कोई । कभी जन्म देता है, कभी मृत्यु । कभी वियोग देता है, कभी संयोग । कभी भय देता है, कभी अभय । कभी यश देता है, कभी अयश । वह जीवोंका रसायन बनाता है कि 'यह हमारे पास आ जाय और फिर मुझसे वियुक्त न हो ।'

कभी मनुष्यका भला भयसे होता है, कभी निर्भयतासे । भय हितकारी होता है । भयसे लोग पापसे, बुराईसे बच जाते है । ईश्वरकी दी हुई वस्तु न बुरी होती है, न अच्छी । उसका उपयोग हम जैसा करते हैं, वह वैसी अच्छी या बुरी बन जाती है । भय और अभय दोनों ईश्वर देता है और दोनों हमारे हितके लिए हैं, यदि हम इनका ठीक-ठीक उपयोग करें । ●

भगवान् ही देते हैं :

५. अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दानकी वृत्ति

अहिंसा : ब्रह्मचारीकी अहिंसा, गृहस्थकी अहिंसा, वानप्रस्थकी अहिंसा और संन्यासीकी अहिंसामें बहुत अन्तर है; जैसे कि सामान्य व्यक्तिकी अहिंसा, जजकी अहिंसा और सैनिककी अहिंसामें। संन्यासीकी अहिंसा क्षत्रियकी अहिंसा नहीं।

प्रश्न उठता है कि अहिंसा गुण है या दोष ? उत्तर है, जिसके लिए वह विहित है, उसके लिए गुण और जिसके लिए निषिद्ध है, उसके लिए दोष। जिस देश और जिस कालमें जैसी अहिंसा जिस व्यक्तिके लिए विहित है, वह गुण है और जिस देश तथा जिस कालमें जिस व्यक्ति के लिए वह निषिद्ध है, वह दोष है।

राष्ट्रविप्लव, शत्रुका आक्रमण या अधर्म होनेपर शासकका कर्तव्य है कि प्रशासनके लिए अहिंसा करे। अहिंसा राष्ट्रधर्म या राज्यधर्म कभी नहीं होती। वह दैनिक धर्म भी नहीं। चोर-लुटेरे आक्रमण करें और आप हाथपर हाथ धरे बैठे रहें, यह कायरता है और कायरता महान् अपराध है। कायर बननेसे तो हिंसक बनना श्रेष्ठ है। हिंसकसे उच्च कोटि है, अपनी ओरसे आक्रमण न करना। कोई आक्रमण करे तो प्रत्याक्रमण-प्रतिहिंसा

की जाय। पर उससे भी उच्च स्थिति है जिसे तप करना है, समाधि लगानी है, ज्ञान या भक्तिके मार्ग पर चलना है, उस विशेष व्यक्तिको अहिंसाका व्रत ग्रहण करना चाहिए।

इसपर प्रश्न होगा : 'ज्ञान हो जानेपर हिंसा या अहिंसा ?' ज्ञान हो जानेपर न तो साधनके रूपमें अहिंसाकी जरूरत है और न द्वेषसे होनेवाली हिंसाकी ही जरूरत। वहाँ हिंसा, अहिंसा दोनोंमें समता आ जाती है।

जहाँ युद्ध आवश्यक है, वहाँ युद्ध और जहाँ शान्ति आवश्यक है वहाँ शान्ति होनी चाहिए। तत्त्वज्ञानी निवृत्ति-परायण नहीं होता। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि 'निवृत्तिका विधान जिज्ञासुके लिए है, ज्ञानीके लिए नहीं। प्रवृत्तिका निषेध भी जिज्ञासुके लिए है, ज्ञानीके लिए नहीं। ज्ञानकी दृष्टिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों समान हैं।'

जो यह कहता है कि 'सबको अहिंसा करनी चाहिए' वह गलत है और जो कहता है : 'सबको अहिंसा करनी चाहिए' वह भी गलत है। हिंसा-अहिंसा वस्तुरूप में न सत् है, न चित् और न आनन्द। दोनों नाम-रूप और दोनों अव्यक्त हैं। अखण्ड ब्रह्ममें न हिंसाका कोई मूल्य है, न अहिंसाका। अतः शास्त्रोक्त रीतिसे इन्हें व्यवहारमें लाना चाहिए।

'अहिंसा'—किसीको जान-बूझकर पीड़ा देनेका भाव 'हिंसा' है। हिंसा शरीर, वाणी या मनसे भी होती है। आजकल केवल मनुष्यकी दृष्टिसे हिंसा-अहिंसाका विचार किया जाता है; किन्तु पहले प्राणिमात्रको दृष्टिमें रखकर चार वर्णों एवं चार आश्रमोंकी दृष्टिसे हिंसा-अहिंसाका विधान होता था।

किसी साधुकी अहिंसा और किसी वैश्यकी अहिंसा एक जैसी नहीं हो सकती। बाबाजीके लिए दातौन भी तोड़नेका निषेध है; किन्तु गृहस्थ लकड़ी न काटे, सर्वौषधि न लाये तो यज्ञ ही नहीं होगा। क्षत्रिय युद्धमें शत्रुको मारता है। वैश्य अन्नमें लगे कीड़ोंको मारेगा ही। वह हल भी चलायेगा। अतः हिंसा-अहिंसाकी जो बात ग्रन्थोंमें हैं, उसे समझनेके लिए उस समयकी विधि-व्यवस्था भी समझनी पड़ती है। डॉक्टरकी अहिंसा दूसरे ढंगकी होती है। वह तो कीड़े मारनेकी भी दवा देता है।

आजके मनोवैज्ञानिक कहते हैं : 'मनमें जो आये, वह करो। अपनी भावनाको मत दबाओ।' इसका फलितार्थ क्या है? यदि मनमें आयी बुराईको संघर्ष करके दबा देनेका अभ्यास आपके जीवनमें रहता, तो राष्ट्रमें या अन्यत्र भी बुराई होनेपर उसे संघर्ष करके दबा देनेकी प्रेरणा मिलती।

पाप-भावना मनमें उठे तो पुण्य-भावनासे उसे दबा देना चाहिए। यह अभ्यास अन्तरमें हो तो जीवन और समाजमें भी पाप असह्य लगेगा। उसे दबा देनेकी तत्परता होगी। 'जो हो सो होने दो' यह जब मनने मान लिया, तो बाहर भी मानने लगे। तब फिर चोर-लुटेरे या आततायीका सामना करनेके लिए मनोबल कहाँसे आयेगा? मनमें बुराईसे लड़ाई करते तो बाहर भी बुराईसे लड़ाई करनेका अभ्यास होता।

जिस जाति, देश, सम्प्रदाय या राष्ट्रमें अन्तःकरण-शुद्धिका भाव शिथिल हो जाता है, वहाँ फिर वीर भी उत्पन्न नहीं होते। जब अन्तःकरण ही निर्वीर्य हो गया तो जीवनमें शौर्य कहाँसे आयेगा?

जो दोष-दुर्गुणोंके सामने आत्मसमर्पण कर देता है, वह शत्रुके सामने भी आत्मसमर्पण कर ही देगा। अतः दोष-दुर्गुणोंके सामने व्यक्ति कभी कायर न बने। यह कायरता हिंसासे भी बुरी चीज है। कायरता तमोगुण है तो दूसरेको हानि पहुँचानेका भाव है रजोगुण।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।

आततायीके सामने आनेपर उसे बिना सोचे मार ही देना चाहिए। दूसरेकी हानिका भाव तो मनमें न आये, पर दूसरा आक्रमण करे, हानि करे तो उसे दंड दिया जाय, यह प्रतिहिंसा है। कायरतासे हिंसा और हिंसासे प्रतिहिंसा श्रेष्ठ है।

अर्जुन कहता था : 'भले ही हम मर जायँ, पर दूसरोंको न मारेंगे'।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

अर्जुन हिंसक नहीं था। वह कहता है : 'मैं हाथमें हथियार न रखूँ और चोट करनेपर भी किसीका प्रतीकार न करूँ, तो भी यदि कौरव हथियार लेकर मुझे मार दें तो मेरेलिए बहुत कल्याणकारी होगा।' भगवान्ने गीता सुनाकर अर्जुनको समझाया : 'अन्यायपर चलनेवालोंके हाथों मरना धर्म नहीं, उन्हें मारना ही धर्म है। जो धर्म और न्यायकी हिंसा कर रहे हों, उन्हें मारना ही धर्म है।'

यदि किसीको चित्त-वृत्तिका निरोध करना हो तो वह साधक है। शत्रुका प्रतीकार करना उसके लिए धर्म नहीं है।

अहिंसा एक तप है :

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।

इसमें हिंसा वृत्ति है; पर क्रिया नहीं । अहिंसा दैवी-सम्पत्ति है : अहिंसा सत्यमक्रोध······। इसमें अहिंसा भी है और युद्ध भी । अर्जुन दैवी-सम्पत्तिमें उत्पन्न है । अहिंसा ज्ञानका एक साधन है :

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा शान्तिमार्जवम् ।
···एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्··· । (गीता० १३.७-११)

अहिंसा यम है : अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । योगमें हिंसावृत्तिका निरोध करनेवाली अहिंसा है । साधकके चित्तमें हिंसासे दो वृत्तियाँ उठती हैं : १. गलत हिंसा करोगे तो ग्लानि होगी । २. ठीक हिंसा करोगे तो अभिमान होगा कि 'हमने बड़ी बहादुरी की ।' साधनामें, समाधिमें हर्ष-विषाद दोनों बाधा डालते हैं । चित्तको समाहित करना या तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है तो अहिंसाको अपनाना काम देगा ।

धर्ममें हिंसा उतनी ही ग्राह्य है, जितनी अपने लिए विहित हो । कृषक खेती करे तो हल चलानेसे कीड़ोंके मरनेपर भी वह अहिंसक ही है । अन्नमें पड़े कीड़े मारते हुए भी वह अहिंसक है । सैनिक युद्धमें शत्रुका संहार करता हुआ भी अहिंसक है । ब्राह्मण यज्ञमें हिंसा करके भी अहिंसक है । यह वर्णधर्म है । आश्रम-धर्ममें ब्रह्मचारी समिधा काटता हुआ भी अहिंसक है । गृहस्थ प्रतिदिन रसोई बनाते हुए भी अहिंसक है । वानप्रस्थ वनसे फल-मूल लेकर भी अहिंसक है । संन्यास लेनेमें भले ही कुटुम्बको पीड़ा हुई हो, वैराग्यसे संन्यास लिया है तो वह अहिंसक ही है । इस प्रकार हिंसा-अहिंसाकी व्यवस्था अधिकारी-भेदसे होती है ।

यह अहिंसा-वृत्ति भी भगवान् ही देते हैं।

हिंसाके कई भेद हैं। हिंसा, द्रोह, क्रोध, द्वेष आदि वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। द्रोह सामूहिक रूपसे होता है। स्वयं तो दूसरेको कष्ट देते ही हैं, औरोंको भी ऐसा करनेको प्रेरणा देते हैं। वाणीसे गाली देना, हाथसे मार देना, मनसे बुरा चाहना व्यक्तिगत हिंसा है। मनमें जलन होनेका नाम है क्रोध। क्रोध प्रज्वलित अग्नि है, तो द्वेष राखसे ढँकी अग्नि। परमार्थके मार्गमें चलने-वालेके लिए ये सभी बाधक हैं।

समता : कभी सिरमें दर्द हो गया तो यह न समझें कि भगवान्‌ने हमारे साथ अन्याय किया। पचास वर्षकी आयु हुई, इसमें एक बार दाँतमें दर्द हुआ तो ईश्वरको गाली देने लगे। तुम्हारे घरमें स्त्री-पुत्र-धन आया, इतने दिन रहा—इसके लिए तो ईश्वरके प्रति कृतज्ञता नहीं और एक दिन अपने दिये उपहारोंमें-से ईश्वरने किसीको अपने पास वापस बुला लिया तो उसे गाली देने लगे!

जो भोजन देता है, उसे कभी उपवास भी देनेका अधिकार है या नहीं? जो धन देता है, वह कभी उसे ले भी तो सकता है। जो स्वास्थ्य देता है, कभी रोग भी देनेका अधिकारी है। तुम ईश्वरसे आशा करते हो कि वह देता ही देता जाय, एक दूकानसे दूसरी दूकान कुछ न भेजे—एक मुनीमसे दूसरे मुनीमके हाथमें कुछ न दे, यह ठीक नहीं। अतः चित्तमें समता आनी चाहिए।

'ममता' समताकी विरोधिनी है। मेरा घर, मेरा धन, मेरा स्वत्व, मेरे लोग' यही भावना विषमता उत्पन्न करती है। गीतामें समताकी बड़ी महिमा है। भगवान्‌ने कहते हैं कि 'समता ही योग है : समत्वं योग उच्यते।

समलोष्टाश्मकाञ्चनः—योगीके लिए लोहा, पत्थर, सोना सब समान है।

कई लोग असली हीरा पहनते हैं तो कई नकली, सुन्दरतामें कोई अन्तर नहीं। अन्तर पड़ता है अभिमानमें। असली पहनेवाला समझेगा : 'मैं बड़ा आदमी हूँ' तो नकली पहननेवालेमें हीन-भावना होगी।

संसारकी वस्तुएँ एक दृष्टिसे सम लगती हैं। मैं बचपनमें अपने मनसे पूछा करता : 'हीरेका इतना मूल्य क्यों है ? इसे खा नहीं सकते और न इससे सर्दी मिटती है।' उस समय मैं दो ही आवश्य-कताएँ जानता था—भूख लगे तो भोजन और ठंढ लगे तो वस्त्र।

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः
कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे।
पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो
जयत्यसौ काचन मोहलीला॥

अर्थात् पत्थरके टुकड़ोंको मानते हैं कि ये रत्न हैं, हड्डी-मांस-रक्तके पुतलेको प्रिय समझते हैं और पंचभूतसे बनी देहको आत्मा मान बैठते हैं, यह मोहकी निराली, अचिन्त्य लीला ही चारों ओर व्याप्त है।

भगवान् कहते हैं :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हारको समान मानकर युद्धमें, व्यवहारमें लगो तो पापके भागी नहीं होंगे।

यदि रोग उभड़े तो प्राकृत चिकित्सक और होमियापैथ बहुत प्रसन्न होते हैं। कहते हैं: 'हमारी चिकित्सा काम कर रही है!' बढ़ा तो रोग, पर होती है प्रसन्नता!

संसारमें सुख आता है तो अभिमान होता है। दुःख आता है तो विषाद, दैन्य और ग्लानि देता है। लेकिन मनुष्य चाहे तो दोनोंमें उन्नति कर सकता है। सुख भी ईश्वरका भेजा आता है और दुःख भी। दोनों आते हैं हमारी भलाईके लिए। इसलिए चित्तमें समता बनी रहनी चाहिए।

हानि-लाभ, जय-पराजय सबमें सम बने रहो। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय ये कर्मके फल हैं। इनमें सम रहो। कारण, कर्ममें समत्व है: न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। विशुद्धान्तःकरण, आत्मज्ञानाभिमुख साधक अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और न कुशल कर्ममें आसक्त ही होता है।

एक मनुष्य प्रतिदिन हवन करता था। एक दिन हवन छूट गया तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। हाथपर हाथ रखकर रोने लगा। लेकिन यह उचित रीति नहीं। एक दिन हवन छूट गया तो कलसे फिर करें। कभी नियम टूट जाय तो उसे छोड़ ही देना मूर्खता है। फिर करना चाहिए। उससे आसक्ति नहीं होती और न ही छूट जानेसे द्वेष होता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

अर्थात् 'सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और पापीमें भी जो समबुद्धि है, वह विशिष्ट है।' यह कर्ताके सम्बन्धमें समता है। तुम उसका कर्म देखते हो या उसके भीतर

जो परमात्मा बैठा है, उसे देखते हो ? तुम्हारी दृष्टि तत्त्वपर है, आकृतिपर है या क्रियापर ?

जबतक अपनेमें अभिमान नहीं होता, तबतक अपनेसे छोटा कोई नहीं दीखता। इसी तरह यदि कोई अपनेसे बड़ा मालूम पड़े तो समझ लो कि अपनेमें हीनता है। यदि छोटा है, पर अपनेको बड़ा दिखाना चाहता है तो उसमें हीनताका भाव है। वस्तु अपने भीतरके भावके अनुसार दीखती है। तुम्हारे चित्तमें बुराई है तो पूरा संसार तुम्हें बुरा दीखेगा। तुम्हारे हृदयमें भलमनसाहत भरी है, तो संसार तुम्हें भला दीखेगा। संसारमें सबमें जो एक है, उसे देखो।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् 'विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें ज्ञानीपुरुष समान दृष्टि रखते हैं। भगवान्‌ने हद ही कर दी। कितना दिव्य-दर्शन होगा यह—जब विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण और कुत्तेको पकाकर खानेवाला श्वपाक, गाय, कुत्ता और हाथी सबमें परमात्मा दीखने लगे !

इस तरह देखनेका माहात्म्य बताया है :

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

'उन्होंने आवागमनको जीत लिया, जिनका मन इसी जीवनमें समत्वमें स्थित है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। अतः वे ब्रह्ममें स्थित हैं। जिसके चित्तमें समता आ गयी, उसकी ब्राह्मी स्थिति हो गयी।

यहाँ भगवान् कहते हैं : 'सबके हृदयमें बैठकर यह समता मैं जगाता हूँ।' बिजली एक ही है; किन्तु अच्छी मशीनमें जाकर वह काम करती है और खराब मशीनमें जाकर मशीनको ही जला देती है। ऐसे ही ईश्वर सबके हृदयमें बैठा सबके भावोंका प्रेरक है। ईश्वर अहिंसा देता है, समता और तुष्टि देता है।

'अहिंसा' : कोई मारा न जाय। सबमें सत्ताको एकरस देखा जाय। 'सत्' की प्रधानतासे अहिंसा होती है—'जीओ और जीने दो।' 'चित्' को प्रधानतासे समता होती है, अपनी बुद्धिमें विषमता न आये। और 'आनन्द'की प्रधानतासे पुष्टि होती है। आत्मा-सच्चिदानन्द है अर्थात् वह जन्म-मृत्यु, विषमता और दुःखसे न्यारा है।

समताके तीन निवासस्थान हैं—मन, बुद्धि और चित्त। सुख-दुःखे समे कृत्वा इससे बुद्धिमें समता आयेगी। जिज्ञासु जब ज्ञान-मार्गपर चलता है तो उसे कुछ साधना करनी पड़ती है। उसे अपने चित्तको सम रखना पड़ता है।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।

चाहे अपने मनके अनुसार कोई काम हो या मनके विपरीत, अपने चित्तकी तराजूको किसी ओर झुकने मत दो। मनके प्रतिकूल हो तो रोओ मत और अनुकूल हो तो फूलो मत। भगवान्ने मनको सम रखनेको कहा है : इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

ब्रह्मज्ञान हो जाय तो मन, बुद्धि, चित्त सबमें समता आ जाती है, क्योंकि सच्चा सम ब्रह्म है : निर्दोषं हि समं ब्रह्म।

जैसे कोई रस्सीमें सर्प देखे, भूछिद्र देखे या डंडा देखे; पर सभी कल्पनाओंमें रस्सी सम ही है।

यह ब्रह्म न राग-द्वेषका आश्रय होता है, न विषय। न इसमें राग-द्वेष होता है, न इसके प्रति किसीका राग-द्वेष होता है। यह 'निर्दोष' अर्थात् गुण-दोष दोनोंसे रहित, और निगुण है, अतएव सम है। जो ब्रह्ममें स्थित है, जिसने अपने आपको ब्रह्म जान लिया है, उसकी अविद्या निवृत्त हो गयी तो राग-द्वेष बाधित हो गये। फलतः उसके चित्तमें समता आ गयी। इसीलिए कहा कि ब्रह्मज्ञान होने-पर समता सहज आ जायगी।

तुष्टि : तुष्टिका अर्थ है सन्तोष। इसमें तीन स्थितियां हैं : १. रति, २. तृप्ति और ३. तुष्टि।

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

अर्थात् जो मनुष्य अपनेमें ही रत, अपनेमें ही तृप्त और अपनेमें ही तुष्ट है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

कर्तव्यके बन्धनसे मुक्त उसे रमणके लिए स्त्री या पुरुषकी आवश्यकता नहीं होती। तृप्तिके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके रस आवश्यक नहीं और न संतोषके लिए धन ही चाहिए। वह अपने आपमें रत, तृप्त और सन्तुष्ट रहता है।

यह स्थिति तब आती है, जब ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त होती है। किन्तु उससे पूर्व भी संतोष चाहिए। संसारमें संतोष परम धन है। सन्तः सन्तोषभाजनाः—संत संतोषके भाजन होते हैं। संतका जीवन एक सन्दूक है, उसमें पूंजी है संतोष।

योगदर्शनमें कहा है : सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः । संतोषसे सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है। यह संतोष नियम है।

भौतिकवादी असन्तोषको महत्त्व देते हैं। अन्तःकरणमें सुखकी दृष्टिसे देखें तो सन्तोषात् सुखमाप्नोति, सन्तोषः परमं धनम्। जिसमें संत निवास करें, उसे कहते हैं संतोष। संसारी लोग भोगकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट होते हैं; किन्तु थोड़े ही समयमें वह भोग कम लगने लगता है अथवा उससे ऊब जाते हैं। संसारके भोगोंसे संतोष नहीं हो सकता। खीर ही खीर खाकर आप कितने दिन रह सकोगे?

भोगमनु विवर्धन्ते रागास्तेषां कौशलानि च।

भोगसे उसमें राग और भोगनेके नये-नये कौशल बढ़ते जाते हैं।

नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति।

प्राणियोंको पीड़ा दिये बिना भोग सम्भव ही नहीं है। एक व्यक्ति अधिक भोग एकत्र करेगा तो स्पष्ट है कि दूसरोंको वह नहीं मिलेगा। भोगमें एक तो अभ्यास बन जाता है। फिर भोगके पराधीन होनेपर दूसरोंको कष्ट होता है।

धनसे संतोष नहीं होता। बचपनमें हम दो पैसेके लिए नाचते थे। माता-पिता कहते : 'नाचो तो दो पैसा देंगे।' फिर दो रुपयेके लिए नाचने लगे। सेठ लोग दो-लाख या दो करोड़के लिए नाचते हैं। नाचनेका मूल्य बढ़ता गया; किन्तु नाचनेकी मनोवृत्ति बनी रही, वह गयी नहीं।

जो भक्तिका साधन करने लगते हैं, उनमें संतोष आ ही जाता है :

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणाः तुष्यन्ति च रमन्ति च।

ईश्वरको लेकर दो प्रकारका सन्तोष आता है : ईश्वर-प्राप्ति-का संतोष और भजन-प्राप्तिका सन्तोष।

संतोष करनेके लिए बाहरकी वस्तु मत रखो। घड़ी पास रहे तो सन्तुष्ट, न रहे तो असन्तुष्ट, ऐसा घड़ीमें सन्तोष रखोगे तो कभी असन्तुष्ट भी होना पड़ेगा। अपना संतोष अपने हृदयमें रखो।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः यो मद्‌भक्तः स मे प्रियः॥

जो निरन्तर सन्तुष्ट रहता है, साधनमें लगा है, संयतचित्त है, दृढ़-निश्चय है, भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाये भगवद्‌भक्त है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

यह भक्तका सन्तोष हुआ। ज्ञानीका सन्तोष है :

यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

'जहाँ अपने आपमें अपने आपको ही देखता हुआ सन्तुष्ट होता है।' जीवन्मुक्तमें संतोष रहता है : यदृच्छालाभसन्तुष्टः। जो सहज स्वभावसे अपने आप सुलभ होता है, उसीमें वह सन्तुष्ट रहता है।

यह सन्तोष आनन्दभावकी अभिव्यक्ति है। जब मनुष्य जन्म-जन्ममें पुण्य करता है, सद्‌गुरुकी कृपा होती है, अपना अन्तःकरण प्रसन्न होता है, तब जीवनमें अहिंसा, समता और तुष्टि आती हैं। किसीको पीड़ा न देना, किसीके साथ पक्षपात न करना और किसी वस्तुकी अपेक्षा न करना, यह कैसे आये? उत्तर है : ईश्वर दे तब आये।

तपो दानम् : यह सद्गुणोंकी एक जोड़ी है। दूसरा सुखी हो, यह ध्यान रखना 'दान' है। इसमें अपनेको भले ही कष्ट भोगना पड़े, यह भाव 'तप' है।

गीतामें तामस, राजस, सात्त्विक तपोंका वर्णन है। दूसरेको कष्ट देनेके लिए जो तप किया जाता है, वह तमोगुणी तप है। भोगप्राप्तिके लिए किया जानेवाला तप रजोगुणी तप है। सात्त्विक तप तीन प्रकारका होता है : शारीरिक, वाचिक और मानस।

जो सबको पवित्र कर सके, उसे 'तप' कहते हैं। जो चोरको, पापीको भी पवित्र करनेमें समर्थ हो, उसका नाम तप है। अपने जीवनमें अबतक क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, इसका विचार छोड़ो और तपको स्वीकार करो। पञ्चाग्नि तापना या चान्द्रायणव्रत करना ही तप नहीं। भागवतमें तपका लक्षण बताया है :

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

'प्रायः साधु पुरुष लोगोंके दुःखसे दुःखी होते हैं। निश्चय ही यह अखिलात्मा परमपुरुषकी सर्वोत्तम आराधना है। संसारका दुःख देखकर दुःखी होना तप है। यह ईश्वरकी परमाराधना है। साधु-पुरुष यही तप करता है। वह अपने दुःखसे दुःखी नहीं होता।

तपकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा है। ब्रह्माने तप करके सृष्टि बनायी। विष्णुको तप करनेसे क्षीरसागर मिला। शिवको तपसे संहार-शक्ति मिली। तपो हि दुरतिक्रमः—तपस्याकी शक्ति अकाट्य है।

एक साधुने चौरासी धूनियाँ जलायीं। उनके बीच वह जा बैठा और मटकेमें अग्नि रखकर उसे सिरपर रख लिया। यह तामस तप

है। तप जीवका शृंगार है। कुरूपताका नाम तप नहीं। रूठकर चुप रहनेका नाम तप नहीं। भगवान्‌ने अपनेको कहा है : भोक्तारं यज्ञतपसाम्.। तप भगवान्‌को भोग देता है।

दूसरेको खिलाओ तो वह यज्ञ है जो भगवान्‌को भोग लगता है। स्वयं अपनी इन्द्रियोंको संयमित करो तो यह तप भगवान्‌को भोग लगता है। घरमें खीर बनी। अतिथि आ गया, उसे खिला दिया, स्वयं नहीं खाया। अतिथिरूप ईश्वरको खिलाना यज्ञ और स्वयं न खाना तप हो गया।

अपने लिए तप है इन्द्रियसंयम, तो दूसरे लिए है दान।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
—१७.१५

किसीको व्याकुल करनेवाली बात न बोलनी, चाहिए। बात सच हो, पर सुननेमें प्रिय लगे। साथ ही स्वाध्याय-आत्मनिरीक्षण कि अपनेमें क्या गुण-दोष है अपना क्या स्वरूप है, इसे पढ़ना-सोचना—यह वाणीका तप कहा गया है।

'तपो दानम्' यहां जान-बूझकर तप और दान एक साथ रखे गये हैं। दान होता है वस्तुका तो तप होता है मन, इन्द्रिय और शरीरसे। जो संसारमें ठीक-ठीक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उनके जीवनमें तप और दान दोनों होने चाहिए।

एक तप और दान होता है लौकिक प्रयोजनसे। जैसे सवर्ण हिन्दुओंसे हरिजन पृथक् न हों, इसके लिए गान्धीजीने अनशन किया। अनशन तप है, किन्तु इस अनशनका प्रयोजन लौकिक

था। अतः जैसे वह प्रयोजन पूर्ण हो, वैसा करना चाहिए। उसका खूब प्रचार होना चाहिए, जिससे अधिक लोगोंके चित्तपर उसका प्रभाव पड़े। लेकिन यदि कोई अपने पापके प्रायश्चित्त या पुण्य-प्राप्तिके लिए अथवा अन्तःकरणशुद्धि या ईश्वरको प्रसन्नताके लिए तप करे तो प्रयोजनके भेदसे तपके संकल्प और स्वरूपमें भेद हो जाता है। इसमें दो भेद मुख्य हैं : १. दृष्ट प्रयोजनसे किया जानेवाला तप और २. अदृष्ट प्रयोजनसे किया जानेवाला तप।

प्रायश्चित्तरूपमें या स्वर्ग-प्राप्तिके लिए जो तप चलता है, वह प्रायश्चित्त या स्वर्ग एकमात्र शास्त्रसे हो जाने जाते हैं। अतः शास्त्रकी रीतिसे जब तप किया जायगा, तभी वह पाप-निवर्तक या स्वर्ग-प्रापक बनेगा। सारांश, शास्त्रोक्त फल पाना हो तो शास्त्रोक्त तप करना चाहिए। कोई चाहे कि पाप करें, नरक न जाना पड़े, स्वर्ग मिले और तप करे मनमाने ढंगसे—जहाँ चान्द्रायण व्रतकी विधि है, वहाँ मौन रहने लगे, तो वह तप कभी फलद नहीं हो सकता।

अन्तःकरणकी शुद्धि दृष्ट प्रयोजन है। इसी जन्ममें पता लग जाता है कि हमारे चित्तमें काम, क्रोध, लोभ, मोह दब गये, इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं। ऐसा तप अपने गुरुकी सम्मतिके अनुसार करें तो लाभप्रद होगा।

मैं एक महापुरुषके पास गया। मुझे कोई अनुष्ठान करना था। वे बोले : 'चार महीनेतक केवल मूँगकी दाल और जौकी रोटी खाना। तीसरी कोई वस्तु मत खाना।'

दृष्ट प्रयोजनके लिए अपने मनसे तप करें और वह पूरा न हो तो अपनेमें हीनभावका उदय होगा। यदि पूरा हो जाय तो

अभिमान होगा कि 'मैंने यह किया।' अतएव अन्तःकरणशुद्धिका साधन सद्गुरुकी सम्मति लेकर ही करना चाहिए। अन्तःकरण-शुद्धिके लिए जो व्रत होता है, वह सन्तुलित होता है। उसमें अति नहीं होती। सर्वथा भूखे रहेंगे तो गर्मी बढ़ेगी, सिरदर्द होगा और अधिक खायेंगे तो आलस्य-प्रमाद बढ़ेगा।

ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए जो तप होता है, वह श्रद्धा तथा भावकी प्रधानतासे होता है। यदि कोई व्रत, जो शास्त्रोक्त होकर शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिए किये जाते हैं, निष्कामभावसे अन्तः-करणशुद्धि या ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जायँ, तो अन्तः-करणकी शुद्धि या ईश्वरकी प्राप्ति इस जीवनमें न हो तो भी वे शास्त्रोक्त व्रत अपना अदृष्ट फल उत्पन्न करेंगे और मनुष्यके आगामी जन्ममें कल्याणकारी हो जायँगे। जो व्रत शास्त्रोक्त नहीं होंगे, वे केवल दृष्ट प्रयोजनसे, युक्ति-विचारसे किये जायँगे। उनका फल इस जीवनमें हुआ तो हुआ, नहीं तो वे अदृष्ट नहीं उत्पन्न करेंगे। अगले जन्ममें वे फल नहीं देंगे। शास्त्रोक्तरीतिसे किये जानेवाले व्रत ही लोक-परलोक दोनोंमें हितकारी होते हैं।

आत्मनः पीडया क्रियते तपः—जो केवल अपनेको कष्ट देना तप मानते हैं, वह तामस तप है। शत्रुको मारनेके लिए किया जानेवाला तप भी तामस है। वह तप 'तप' नहीं। अतः तामस या राजस तप नहीं करने चाहिए। सात्त्विक तप ही करना चाहिए।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

—१७.१४

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजन : अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा विद्वानोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा शारीरिक तप कहा गया है।

देवता खाते नहीं; किन्तु उनके सामने नैवेद्य रखनेसे भाव बन गया कि यह देवप्रसाद हो गया। पूजा करनेपर जिसकी पूजा की जाती है, लाभ उसका नहीं, पूजा करनेवालेका होता है। कर्मका फल कर्ताको मिलता है।

ब्राह्मणकी पूजा इसलिए होती है कि वे शास्त्रीय ज्ञानके धारक हैं। गुरुकी पूजा ज्ञानदाताकी पूजा है। 'प्राज्ञ' वह है जो अपना गुरु तो न हो, किन्तु ज्ञानी हो; उसको भी पूजा करनी चाहिए।

पूजाका अर्थ है, आदर करना। सेठ जयदयालजी गोयन्दकासे मेरी इस श्लोकपर चर्चा हुई। मैंने कहा : 'यहाँ तो मनुष्यकी पूजा करनेको भगवान्‌ने कहा है।' सेठजी : 'मैं पूजा करनेको कहाँ मना करता हूँ, पूजा करानेका विरोध करता हूँ।'

शौच : अपने शरीर-वस्त्रादिको पवित्र रखना।

आर्जव : मनको सरल, छल-कपटरहित रखना।

ब्रह्मचर्य : से रहना, अहिंसाव्रत का पालन करना, ये सब शरीरसे होनेवाले तप हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

—१७.१६

मनःप्रसादः मनके निर्मल रखना।

सौम्यत्व : सौम्य, सादा वेष रखना। वेषको देखकर किसीके मनमें क्षोभ या विकार न हो। उद्धत वेष-भूषा नहीं बनानी चाहिए। आह्लाददायी वेष और आकार रखना चाहिए। वेष ऐसा न हो कि जिसे देखकर मनुष्य गुण्डा लगे। सबके लिए सौम्य बने रहे। मनमें कड़वाहट हो तो उसे दबा लें।

मौन : यहाँ मौन मानस-तपके भीतर है, वाचिक-तप नहीं। इसका तात्पर्य है कि मनसे मौन रहें, व्यर्थ चिन्तन न करें। किसीने गाली दी, अपमान किया तो मनमें उसे मत सोचो। मनमें अपनी अच्छाई मत बोलो, इससे अभिमान आयेगा। दूसरेकी बुराई भी मत बोलो, इससे द्वेष आयेगा। अपना मन ईश्वरमें लगाना चाहिए।

आत्म-विनिग्रह : इन्द्रियोंको इधर-उधर जानेसे रोकना। जैसे घरमें कुत्ता या गाय हो और वह दूसरोंको काटने या मारने दौड़ें तो उसे बाँधकर रखते हैं, वैसे ही जब इन्द्रियाँ हिंसा करने दौड़ें तो उन्हें रोक रखना चाहिए।

भावसंशुद्धि : अपने हृदयमें दूसरेके प्रति दुर्भाव नहीं रखना। हृदयका भाव ही बड़ी वस्तु है, सांसारिक वस्तुएँ नहीं। धर्मका रहस्य इतना ही कहा गया है :

> यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
> कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥
>
> —महाभारत

अर्थात् जब मनुष्य सब प्राणियोंके प्रति कर्म, मन या वाणीसे

पापभाव नहीं करता, तब वह धर्मको जानता है। यह तुला-धारने जाजलि ऋषिको उपदेश करते हुए कहा है।

अपने मनमें किसीको पापी मत समझो। मुँहसे किसीको पापी मत कहो। किसीके साथ ऐसा व्यवहार मत करो, जैसा लोग पापीके साथ करते हैं। हम दूसरेको चोरी या अनाचार करते कितनी बार जीवनमें देखते हैं? लेकिन सुन-सुनाकर बहुतोंको चोर या अनाचारी मान लेते हैं अथवा अनुमान करते हैं। अनुमान कैसा करते हैं? 'वैसी परिस्थितिमें होनेपर हम जो करेंगे, वही दूसरा करता है' यही तो अनुमान करेंगे?' पर जो स्वयं ही बुराई नहीं करेगा, वह दूसरेके बुरा होनेका अनुमान कैसे करेगा? दूसरेके दोषकी चर्चा करना अपने दोषका विज्ञापन करना है।

'भावसंशुद्धि'का अर्थ है—सुन-सुनाकर किसीको बुरा न मान लेना। निर्वाणप्राप्त महामण्डलेश्वर स्वामी श्री शुकदेवानन्दजी एक दृष्टान्त देते थे: "एक सज्जन यात्रामें जाने लगे तो अपनी पत्नीको गाँवके एक बहुत बड़े सत्पुरुषके पास छोड़ गये। बोले: 'आनेपर जब आप कहेंगे कि यह ठीक है, तब मानूँगा कि यह ठीक है।'

वे सत्पुरुष सोचने लगे—'लड़की कहीं गड़बड़ करेगी तो मुझे झूठ बोलना पड़ेगा।' अतः रातमें उसे अपने पलंगपर ही सुलाते और बीचमें तलवार रख लेते। जो भी यह देखता या सुनता, उनकी बदनामी करने लगता था।"

तात्पर्य यह कि हमारा हृदय शुद्ध रहे, फिर संसारमें जो होना हो, वह हो। ईश्वर शुद्ध हृदयमें ही प्रकट होता है।

हम लोग एक महात्माका सत्संग करते थे। वहाँ दूसरेकी चर्चा कर बैठे। महात्मा बोले: 'क्यों जी, उसने तुम्हें अपनी

चारित्र्य-रक्षाका ठेका दिया है? जज बनाया है कि तुम उसके विषयमें निर्णय दो? तुम उसकी चर्चा साधिकार करते हो या अनधिकार?'

अपना हृदय पवित्र है तो पूरा संसार पवित्र है। यथोपानत्पदः शिवम्। एक मनुष्यको पैदल चलना था। पृथ्वी कांटोंसे भरी थी। सोचा—पूरे मार्गोंके कांटे चुनना तो संभव नहीं। उसने अपने पैरोंमें जूते पहन लिये। ऐसे ही हमें पूरे संसारको स्वच्छ बनाते हुए आगे नहीं चलना है, अपने हृदयका हो स्वच्छ रखकर बढ़ना है।

तेरे भावे जो करो, भलो-बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर, अपनो भवन बुहार॥

तपसे असाध्य भी सिद्ध हो जाता है। तपसे विश्वामित्रने दूसरी सृष्टि ही बना दो। मरनेवाले भो तपसे अमर और वृद्ध भी युवा हो सकते हैं। तपमें शोधनकी महान् सामर्थ्य है। तपकी यह वृत्ति भी ईश्वर ही देता है।

दान : बचपनमें मैंने गांवमें देखा कि ब्राह्मणको दान करना होता था तो दामादको देते थे। लेकिन जहाँ सम्बन्ध है, वहाँ दान अदृष्टोत्पादक नहीं होता, उससे पुण्य नहीं होता। बड़ा होनेपर मारवाड़ियोंके घर गया, तो उनके वहाँ देखा कि अपने रसोइयेको दान करते हैं। संन्यासी होनेपर देखा कि अधिकतर लोग मन्त्रियों, सरकारी अधिकारियोंके सम्बन्धसे दान करते हैं।

जब आप आयकरसे बचने या परमिट लेनेके लिए दान करते हैं, तो आप दानका फल नहीं पाते। वह दान पुण्य उत्पन्न नहीं

करता। दान-खातेका पैसा जब लाभ उठानेके काममें लगा, तो वह दान ही नहीं हुआ।

मनुष्यकी तीन समस्याएँ मुख्य हैं: १. जीवनकी, २. समझ बढ़नेकी और ३. सुखी रहनेकी। परमात्मा सद्रूप है, अतः हम जीवन चाहते हैं। इसके लिए अन्न चाहिए, अतः अन्नदान करो, वस्त्र दान करो, औषधि-दान करो, जल-दान करो। ये जीवनके लिए आवश्यक हैं। यह 'सत्'का दान है।

जो अज्ञानी हैं, उनके लिए विद्यालय, पुस्तकालय, वाचनालय बनवाना, विद्यार्थियोंको वृत्ति-देना 'चित्' का दान है।

मनुष्य दुःखी न हों, इसके लिए प्रयत्न 'आनन्द'का दान है।

मनुष्य कईबार सामग्रीकी कमीसे दुःखी होता है तो कई-बार मनकी गड़बड़ीसे। जहाँ मनुष्य भौतिक वस्तुओंकी कमीसे दुःखी है, वहाँ उसे भौतिक वस्तु प्राप्त करानी चाहिए। किन्तु जहाँ मिलनेपर भी अधिक मिलनेके लिए व्याकुलता है, वहाँ वह मनकी गड़बड़ीसे दुःखी है। दस हजारकी मोटर है, पर चालीस हजारकी मोटरके लिए व्याकुल है, तो वह तृष्णासे दुःखी है। ऐसी स्थितिमें उसे सत्संग चाहिए।

दस वर्ष पीछे हम या हमारे बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्रशासनको करनी चाहिए, व्यक्तिको नहीं। बुद्धिके ऐसे दोषके निवारणके लिए ईश्वर-विषयक अज्ञाननिवारण आवश्यक है। सत्संगकी आवश्यकता है।

लौकिक लाभ लोगोंको देना हो तो नोटिस छपवाकर, समा-

चारपत्रोंमें देकर, रेडियो द्वारा प्रचारकर अधिक-से-अधिक लोगोंको जानकारी देनी पड़ती है।

शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिए शास्त्रोक्त रीतिसे दान होता है। एक दान है सर्वप्रायश्चित्त। अनादि कालसे जीवरूपमें हम संसारमें भटक रहे हैं। इसमें जाने-अनजाने नाना प्रकारके पाप हमसे हुए हैं। उन सब पापोंका प्रायश्चित्त करनेके लिए यह होता है। यह शास्त्रकी रीतिसे ही होगा।

पितरोंके लिए पिण्डदान भी शास्त्रोक्त रीतिसे करनेपर ही उन्हें प्राप्त होगा। दान देनेके लिए उचित देश, उचित काल, उचित वस्तु और उचित अधिकारी होना चाहिए। पवित्र तिथि हो, पवित्र स्थान हो और लेनेवाला भी पवित्र हो :

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

दान समाचारपत्रमें छपवाकर नहीं दिया जाता। छपवा दिया तो यश मिल गया। यह लौकिक फल हो गया, तो अदृष्टके लिए कुछ बचता ही नहीं।

एक बड़े त्यागी ब्राह्मण थे। वे किसीसे कोई दान नहीं लेते थे। वहाँके सेठोंके मनमें रहता था कि कैसे भी उनके घर पहुँचा दें। दही जमाते तो उसमें गिन्नी डाल देते और पंडितानीके पास उसे भेज देते। पंडितानी रख लेतीं। पंडितजीको बतलातीं नहीं।

जब मेरे पितामह बच्चे थे तब घर चावल नहीं होता था। अतिथि-अभ्यागत आते, तो चावलकी आवश्यकता होती। गाँवमें एक विन्द था सम्पन्न, वह गाँवकी पूरी खबर रखता। वह उस समय अपनी पत्नीको दही या साग बेचनेवाली जैसा बनाकर टोकरीमें

दाल, चावल रखकर कपड़ेसे ढँककर भेजता। वह पुकारती आती : 'दही लो दही !' घरमें घुस आती और चावल, दाल आदि सब सामान दे जाती थी।

लेकिन आज लोग कुछ सामान देते हैं तो ऐसे ढंगसे देते हैं कि दूसरे देख लें, जान लें। पर यह विज्ञापनकी रीति दानमें नहीं चलती। तप और दानकी यह वृत्ति भगवान्‌की बड़ी कृपासे चित्तमें आती है। नहीं तो घरे-घरे लोग मर जाते हैं।

तपो दानम् : धर्मके अनुसार इन्द्रियनिग्रह तप है। धर्मके प्रतिकूल इन्द्रियनिग्रह तप नहीं है। अपनी इन्द्रियोंका तो निग्रह करें और बाहर जो वस्तुएँ हैं, उनका दान करें। ये पदार्थ अबतक किसीके साथ गये नहीं।

अवश्यं यातारः चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः

संसारके विषय दस दिन अधिक रहें या दस दिन कम, ये जायँगे अवश्य।

वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममुम्।

जब ये जायँगे हो तब हम इन्हें जान-बूझकर क्यों न छोड़ें ?

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः

यदि ये विषय स्वतन्त्ररूपसे तुम्हें छोड़कर चले जायँगे तो तुम्हें बहुत दुःख होगा।

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

लेकिन यदि स्वयं इनका परित्याग किया जाय तो छोड़नेका भी आनन्द आता है।

पांच रुपया कमाया तो कमानेका आनन्द आया और पांच रुपया दिया तो देनेका भी मजा आया। किन्तु वह पांच रुपया चोर ले गया या किसीने छीन लिया अथवा गिर गया या विवश होकर किसीको देना पड़ा तो बड़ा दुःख होगा। अतः जब हृदयमें दानका भाव आये तो उसे तुरन्त पूरा करना चाहिए। जबतक लोभ आकर तुम्हारी उदारताको दबा न दे, तबतक दे दो।

संस्कृतमें 'हेमाद्रि'के ग्रन्थ चतुर्वर्ग-चिन्तामणिका एक खण्ड 'दानखण्ड' है, जो प्रायः भागवतके बराबर है। दूसरे भी अनेक ग्रन्थ दानपर हैं। यहाँ उनके विषयोंका विस्तार सम्भव नहीं। दानके सम्बन्धमें मुख्य बातें ये हैं :

१. दान अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए किया जाता है। सृष्टिमें किसीमें सामर्थ्य नहीं कि संसारके सभी गरीबोंकी सारी आवश्यकताएँ पूरी कर दे। जरूरतमन्द बहुत हैं और एक-एककी जरूरतें भी अनेक हैं। अतः 'हम दूसरेकी जरूरतें पूरी कर देंगे' यह निरा अभिमान है।

२. दान अपने हृदयकी प्रेरणासे होना चाहिए। ऐसे धर्मात्मा होते हैं, जिन्हें बिना दिये कष्ट होता है। दिये बिना उनसे रहा नहीं जाता।

३. आप जिसे देना चाहते हैं, वह जब सर्वथा कंगाल, भूखा, चिथड़े लपेटे रहेगा तब उसे दो-चार पैसे देंगे ? उसे दान देना चाहते हैं या उसका नाश करना ? 'हमारे दिये बिना उसका काम न चले, तब देंगे' इससे बढ़कर दानके अधिकारीका तिरस्कार और क्या होगा ?

४. दान बाहरके जरूरतमन्दोंकी जरूरत नहीं। अपने हृदय-का उत्साह है।

५. आप चाहे जितना दान करें, दानके बाद यह नहीं हो आना चाहिए कि 'हमने इतना दिया।'

'दानम्' : आपके पास एक रुपया था, आपने दस पैसे दान किये तो आपकी ममता सौ पैसोंसे घटकर नब्बे पैसोंपर आ गयी अर्थात् ममताका दस प्रतिशत भाग कम हो गया। यह ममताका क्षेत्र घटना अन्तःकरणकी शुद्धि है।

भागवतमें विचार किया गया है कि दान किसे किया जाय। दान पशु या पक्षीको नहीं किया जाता। किसी अमीर या गरीबको नहीं किया जाता। वस्तुतः दान करनेका अधिकार किसीको नहीं है। तुम्हारा माल हो तब न दान करोगे? माल तो तुम्हारा है ही नहीं। सारे पदार्थ ईश्वरके हैं। अतः ईश्वरके सामने हाथ जोड़कर कहो : 'प्रभु! माल तो तुम्हारा है। इसे मैंने भूलसे अपना समझ लिया था। मैं दे नहीं रहा हूँ, मात्र अपनी भूल सुधार रहा हूँ।'

समाजवादी कहते हैं : 'सम्पत्ति समाजकी है, व्यक्तिकी नहीं।'

साम्यवादी कहते हैं : 'सम्पत्ति श्रमिककी है। जो श्रम करे सम्पत्ति उसीकी है। सम्पत्ति सबकी मिली-जुली है।'

राष्ट्रवादी कहते हैं : 'सम्पत्ति राष्ट्रकी है।'

विश्ववादी (मानवतावादी) कहते हैं : 'सम्पत्ति पूरे विश्वकी है। विश्वमें जहाँ जिसे आवश्यकता हो, वहाँ पहुँचायी जाय।'

भक्त कहते हैं : 'सम्पत्ति ईश्वरकी है।' अतः जिसे देना है, उसमें ईश्वर-बुद्धि करके देना ही दानकी सर्वश्रेष्ठ विधि है।

ईश्वरको क्या आवश्यकता है ? वृक्षसे पुष्प चुनते हो तो वृक्ष ईश्वरका और पुष्प भी ईश्वरका। वह ईश्वरको चढ़ानेके लिए है, अपने शृंगारके लिए नहीं। इसी प्रकार :

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

पहले ईश्वरकी सम्पत्तिको अपनी समझना, फिर उसे देना, इससे उत्तम यही है कि प्रारम्भसे समझ लें कि अपना कुछ है ही नहीं, सब ईश्वरका है।

अपना स्वत्व हटाकर उसपर दूसरेका स्वत्व स्थापित करनेका नाम 'दान' है और केवल अपना स्वत्व हटा लेना है 'त्याग'।

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।

'नाथ ! यह बात पक्की है कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके स्वामी तुम ही हो। तब तुम्हें क्या अर्पण करूँ ? वस्तुतः सारी सम्पत्ति भगवान्‌की ही है। हम तो उसके रक्षकमात्र हैं। अतः सम्पत्तिका अभिमान कभी नहीं करना चाहिए।

शास्त्रोंमें सबसे बड़ा दान माना गया है, 'अभय-दान'। लोगोंके मनमें नाना प्रकारके भय बैठे हैं—राजाका भय, मृत्युका भय, पुनर्जन्मका भय, नरकका भय। इसके लिए ऐसा ज्ञान उन्हें देना चाहिए कि ये सारे भय उनके मनसे मिट जायँ। यह सबसे बड़ा दान है। यह दान केवल महात्मा ही कर सकते हैं। इसीलिए संन्यास लेते समयका संकल्प है :

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा।

अर्थात् मुझसे सब प्राणियोंको अभय मिले। अब हम किसीको डरायेंगे नहीं, किसीको मारेंगे नहीं, किसीका कुछ छीनेंगे नहीं।

कोई प्राणी अपराध भी करेगा तो दण्ड न देंगे। मुझसे सब अभय हो जायें।

इस प्रकार दानकी वास्तविक प्रेरणा है : 'संसारको छोड़ो' तो तपकी प्रेरणा है : 'अन्तर्मुख हो जाओ।'

भगवान् जिसपर प्रसन्न होते है, उसे वे दान और तपकी प्रेरणा देते हैं। भगवान्से विमुख जानेवालेकी वृत्ति अपनी इन्द्रियों-को खुला छोड़ देना और मुट्ठी बांधकर रखना है। ●

भगवान्से ही होते हैं :

६. यश, अयश एवं प्राणियोंके सभी भाव

यशोऽयशः—यशकी धारणा भी सबकी पृथक्-पृथक् है। किसीका यह बेजोड़ पहलवान बनना है, किसीका बेजोड़ खिलाड़ी होना है।

कई लोग अपना नाम फैलानेको ही यश मानते हैं; किन्तु नाम तो अयशसे भी फैलता है।

बदनाम गर होंगे तो क्या नाम न होगा?

मेरे गाँवके पासके गाँवके एक लड़केका सिर कुछ ढीला हुआ। वह धोबीके गधेपर चढ़कर घूमने लगा। लोगोंने पूछा: 'तुम ब्राह्मणके पुत्र होकर यह क्या करते हो?' वह बोला: 'वैसे तो कोई हमारा नाम नहीं लेता; पर ऐसा करनेसे पूरे गाँवमें मेरा नाम फैल जायगा।'

व्यक्तिका यश उसके समाजमें एवं उसकी मान्यताके अनुसार होता है। यह यश-अयश भी भगवान् ही देते हैं।

× × × ×

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

हमारे अन्तःकरणमें सात्त्विक, राजस, तामस जितने भी भाव होते हैं, सब परमात्मासे ही आते हैं। यह मत देखो कि मनमें क्या आता है। यही देखो कि मनमें उसे भेजता कौन है? चित्र नहीं,

चित्रकारको देखो। चाँटा किसने मारा, यह देखनेपर वह मित्रका मारा हो तो क्या क्रोध आता है? इस दृश्य चित्रका वही चित्रकार है और वही चित्र है।

भगवान् हृदयमें बैठे हैं। जितने आध्यात्मिक भाव अर्थात् वृत्तियाँ उठती हैं, जितने आधिदैविक भाव जैसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र आदि और जितने आधिभौतिक भाव पदार्थ एवं प्राणी हैं, सब भगवान्‌से हो रहे हैं। जो बाहर संसारमें दीख रहा है, वह भगवान्‌का खेल है और जो मनमें उठता है, वह भी भगवान्‌से ही उठता है। इन सबके पार्थक्यको नहीं, इनके पीछे स्थित भगवान्‌के हाथोंको देखो।

सभी धार्मिक मत मानते हैं कि ईश्वर अन्तर्यामी है। वह हमारे हृदय में बैठा है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया—द्वैतवादी कहते हैं: 'जीव एक अन्तःकरणके धर्म, अवस्था, स्वभावादिको 'मेरा' स्वीकार करके बैठा है। ईश्वर वह है, जो सब बुद्धियोंसे पृथक् रहकर उनका संचालन करता है।' वेदान्ती कहते हैं: 'जो बुद्धिको पकड़कर बैठा है, वह प्रतिबिम्ब है और ईश्वर बिम्ब है। जीव-ईश्वर, दोनों औपाधिक हैं। इनसे न्यारा स्वयं प्रकाश आत्मा है। वही ब्रह्म है।'

निरूपणकी ये पृथक्-पृथक् शैलियाँ हैं। भीतर बैठा ईश्वर नाना प्रकारके खेल खेलता रहता है!

शेरको क्रोध आ रहा है और हिरन डर रहा है। शेरके हृदयमें क्रोधका भाव परमेश्वरकी सत्तासे है और हिरनको भय भी परमेश्वरकी सत्तासे ही है। इसे ऐसे समझो कि आपके स्वप्नमें एक शेर और एक हिरन आये। शेर हिरनपर आक्रमण करे। शेर जो

क्रोधमें है और हिरन जो डरा भागता है, दोनों आपकी सत्तासे हैं या नहीं ?

स्वप्नमें एक स्त्री, एक पुरुष हैं। दोनोंके मनमें काम या घृणा है अथवा एकके मनमें काम और दूसरेके मनमें घृणा है। दोनोंकी सत्ता स्वप्नद्रष्टा ही है या नहीं? इसी तरह समूची सृष्टिमें जो कुछ होता है, वह ईश्वरके भीतर—ईश्वरके स्वप्नमें भी कह सकते हैं—होता है। परस्पर विरोधी सभी भाव ईश्वरसे ही होते हैं। वह एक ओर मिट्टी बनकर स्थिर है, तो दूसरी ओर पानी बन बह रहा है, आग बनकर जला रहा है, वायु बनकर उड़ रहा है, आकाश बनकर सबको धारण कर रहा है। मन, बुद्धि, प्रकृति सभी वही है।

आपै अमृत आप अमृतघट आपै पीवनहारी।
आपै ढूँढ़ै आप ढुँढ़ावै आपै ढूँढ़नहारी॥

भवन्ति भावा भूतानाम् : जो पहले कईबार हो चुका और अब भी उत्पन्न हुआ है, वह भूत है। पहले भी था तो उसके संस्कार उसमें हैं। पृथक्-पृथक् संस्कार होनेसे पृथक्-पृथक् भाव उसमें होते हैं। ईश्वर सूर्यकी भाँति है। उसका प्रकाश सबपर पड़ रहा है। अन्तःकरण शीशेकी भाँति है—कोई लाल, कोई पीला, हरा, नीला या सफेद! शीशा जैसा हो, उसमें प्रकाश वैसा दीखता है। बिजली पंखेमें गति, बल्बमें प्रकाश तो हीटरमें गर्मी देती है। बिजली एक ही है। यह विशेषता यन्त्रोंकी है। ऐसे ही ईश्वर एक है; लेकिन अन्तःकरणके संस्कारोंके अनुसार ईश्वरकी सत्तासे उनमें पृथक-पृथक् भाव जागते हैं। मिट्टी-पानी वही है खेतमें, किन्तु बीज-भेदसे अंकुर भिन्न-भिन्न जौ, गेहूँ, चना आदिके उगते हैं।

कभी-कभी एक ही व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न संस्कार जागते हैं। मैंने एक व्यक्तिको देखा कि व्यापारमें कई लाखकी हानि हुई; पर उसे दुःख नहीं हुआ। उसी व्यक्तिको एकबार मैंने दो रुपयेके लिए लड़ते भी देखा।

यदि यह बात सचमुच जानकारीमें आ जाय कि सृष्टिमें जितने भाव बाहर हैं या अन्तःकरणमें आते हैं, सब भगवान्‌से आते हैं, तो इसका फल होगा 'अविकम्प-योग'। आप किसी भी प्रकार भगवान्‌से पृथक् नहीं होंगे। रोते-हँसते, सोते-जागते, स्वप्नमें भी आप भगवान्‌से मिले रहेंगे।

धूलि उड़ना पृथ्वीकी, लहरें उठना जलकी, चिनगारी अग्निकी, झोंके हवाकी, शब्द आकाशकी, संकल्प मनकी, विचार बुद्धिकी अहंभाव अहंकारकी स्फुरणाएँ हैं और वे ईश्वरसे आती हैं। ये सब भाव परमात्मासे आते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने बीस बातोंका वर्णन किया है। इनमें आठ बातें दो-दोके क्रमसे हैं और बारह एक-एकके क्रमसे। बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, अहिंसा, समता तुष्टि, तप, दान ये बारह और सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय, यश-अयश ये दो-दो करके हैं। इनमेंसे चार बातोंको भगवान् उलटी-सीधी दोनों देते हैं और आठ सीधी-सीधी।

भगवान् अहिंसा भी देते हैं और अपराधीको दंड देनेकी वृत्ति भी। सत्य भी देते हैं और असत्य भी। दम भी देते हैं और भोग भी। शम भी देते हैं और विक्षेप भी। ऐसा क्यों? यदि सबको समान देना होता तो चारका ही विपरीत वर्णन करना और शेषका इकहरा वर्णन करना कैसे बनता?

महात्मा लोग कहते हैं : 'सुख-दुःख कर्मानुसार प्रारब्धसे मिलता है। यह भोग है। अतः इसे तो कर्मानुसार भगवान् देते हैं। किन्तु झूठ बोलना कर्म है, अतः उसे भगवान् नहीं देते।'

जन्म-मरण प्रारब्धका भोग है, अतः इसे भगवान् देते हैं। भय-अभय भी प्रारब्धका फल है और यश-अयश भी। ये जो चार जोड़े हैं—सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय, यश-अयश, दोनों दशाओंमें कल्याणकारी होते हैं। किसीका कल्याण सुखसे तो किसीका दुःखसे ही होता है। किसीका मृत्युसे कल्याण होता है तो किसीका जन्मसे। किसीका भयसे सुधार हो जाता है तो किसीका अभयसे। कोई यशसे सुधरता है तो कोई अयशसे।

साधुके लिए तो लिखा है कि वह जानबूझकर ऐसा काम करे जिससे लोग उसका तिरस्कार करें :

> तथा तथा चरेद् योगी सतां वृत्तिमगर्हयन्।
> जना यथावन्मन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥

अर्थात् योगी सज्जनों द्वारा निन्दित कर्म तो न करे; किन्तु ऐसे रहे, जैसे लोग उसका तिरस्कार करें और उसके साथ न लगें।

कोई बुरा काम करने मनुष्य जा रहा है, उसे डरा दिया तो वह बच गया। अपयश हुआ, लोगोंने पास आना छोड़ दिया तो साधकका भजन बना। असुर है, वह सुधर नहीं सकता तो भगवान् अवतार लेकर भी उसे मारते हैं। इससे उसका कल्याण होता है।

ये जो सुख-दुःखरूप, जन्म-मृत्युरूप, भय-अभयरूप और यश-अयशरूप भोग हैं, वे भगवान् जीवका कल्याण करनेको देते हैं। इन सबमें जीवका कल्याण करनेकी सामर्थ्य है।

हिंसा करने, झूठ बोलने आदिसे किसीका कल्याण नहीं होता। अतः अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान भगवान् देते हैं। हिंसा, झूठ, विषमता, असन्तोष, भोगवृत्ति, कृपणता आदि मनुष्यकी अपनी भूलसे आते हैं।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

अज्ञानसे ज्ञान ढँक गया है, इसीलिए प्राणी मोहमें पड़ते हैं। भगवान् ने कहा है :

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न यह काम और यह क्रोध बहुत खानेवाले, पेटू और महापापी हैं। इनको अपना शत्रु समझो।

प्रारब्धका भोग भगवान् देते हैं और बुरे कर्म या बुरे भाव जो चित्तमें आते हैं, वे अज्ञानसे आते हैं। अतः यदि अज्ञानको मिटा दिया जाय तो बुरे कर्म नहीं होंगे। बुरे भाव चित्तमें नहीं आयेंगे। मनुष्य पवित्र हो जायगा।

यह बुराई भी तो क्षेत्रके भीतर ही है :

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥–१३.६

राग भी क्षेत्रके अन्तर्गत है और द्वेष भी। संघात, शरीरका संघात भी क्षेत्रके अन्तर्गत है। ये सब प्राकृत विकार हैं। इनमें कामरूप शत्रुकी क्या बात है? ये भूलें कामसे, अज्ञानसे या प्रकृति-से होती हैं, पर हैं तो क्षेत्रमें ही। खेतमें कंकड़, घास-फूल सभी पैदा होते हैं और बोया अन्न भी उत्पन्न होता है, लेकिन घास-

फूस उखाड़ना पड़ता है। इसी प्रकार क्षेत्रके काम-क्रोधादि विकारोंको भी क्षेत्रसे दूर करना पड़ता है। सुधरे खेतमें जैसे घास-फूस नहीं होते, वैसे शुद्ध अन्तःकरणमें ही ये विकार नहीं होते।

अब प्रश्न उठता है कि विकार तो प्रकृतिके ही हैं। भगवान्‌ने कहा है :

> मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
> हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

अर्थात् 'अर्जुन! मुझ अध्यक्षसे प्रेरित प्रकृति चराचर सृष्टि उत्पन्न करती है। इसी कारण संसारका परिवर्तन चल रहा है।' प्रकृतिमें जो भी उत्पन्न होता है, उसमें प्रेरक रूपसे भगवान् हैं। तब अनादि जीवका अनादि अज्ञान, उसका अनादि अन्तःकरण और उसमें अनादि कर्म-संस्कार भी भगवत्प्रेरणा या भगवत्सत्तासे हैं? लेकिन समझनेकी बात है कि यह भगवत्सत्ता तटस्थ प्रेरकमात्र है। जैसे सूर्यके प्रकाशमें चोर चोरी करे, साधु भजन-पाठ करे। प्रकाश ईश्वरका है, पर अन्तःकरण उसमें अपने-अपने कर्म-संस्कारानुसार बरत रहे हैं।

संसारमें प्राणीको कभी सुख तो कभी दुःख मिलता है। जन्म हुआ तो मृत्यु भी होगी ही। कभी डरते हैं तो कभी निर्भय रहते हैं; कभी यश हुआ तो कभी अयश भी मिलता है। इसमें डरना नहीं चाहिए। जैसे रातके बाद दिन और दिनके बाद रात, वर्षाके बाद शीत और शीतके बाद गर्मीका कालचक्र चलता है, वैसे ही अन्तःकरणमें भी एक चक्र चलता है। उसीमें सुख-दुःख, भय-अभय, यश-अयश आते-जाते रहते हैं। जीवन-चक्रमें यह स्वाभाविक है। कालिदास कहते हैं :

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

जैसे रथके घूमते पहियेके भाग क्रमशः नीचे जाते और ऊपर आते हैं, मनुष्यका-जीवन-चक्र भी वैसा ही घूमता रहता है। हार मत मानो, तुम्हें सफलता निश्चित मिलेगी ! इसी मार्गपर चलते-चलते तुम्हें ईश्वर मिलनेवाला है। मार्गको देखकर मत घबराओ।

हम लोग गंगोत्तरी जा रहे थे। सामान खच्चरपर था। भैरव-घाटी आयी तो खच्चरवालोंने सामान उतारकर कहा : 'यहाँ हमारे खच्चर सामान नहीं ले जा सकते।' कठिन मार्ग था। एक ओर हजारों फुट गहरा खड्ड ! नीलगंगाका सँकरा पुल पार करना था। अच्छे मार्गमें तो खच्चरपर सामान लाये और बीहड़ मार्ग आया तो सामान भी सिर या पीठपर लादना पड़ा। एक साथी रोने लगे; किन्तु सामान उठाया, घाटी पार की गयी और दूसरे दिन गंगोत्तरी पहुँच गये। इसलिए मार्ग कठिन आये तो हार नहीं माननी चाहिए।

एक महात्माने बतलाया : 'मार्गमें चलते-चलते पैर फिसल जाय या गिर पड़े तो यह कोई अपराध नहीं है। लेकिन गिरनेपर फिर न उठना अपराध है और उठनेपर आगे न बढ़ना उससे भी बड़ा अपराध है।' गिरो तो उठो, फिर बढ़ो। कैसे भी रोते-गाते, गिरते-उठते, प्रभुकी प्राप्तिके मार्गमें बढ़ते चलो।

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते।

भगवान्‌ने खेलके लिए यह सम्पूर्ण संसार बनाया है। इसमें तुम भी खेलका आनन्द लेते खेलो। यहाँ जितने भाव हैं, वे अन्त-करणमें हों या बाहर, सब भगवान्‌से हैं। सब भगवान् ही हैं। ●

७. आदिपुरुष

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

पहले कल्पके सात महर्षि, चारों कुमार और मनुगण ये मेरे भावसे मानसिक रूपमें उत्पन्न हैं, जिनसे इस लोककी सारी प्रजा उत्पन्न हुई है। भगवान्ने इससे पहले कहा : 'अन्तःकरणके जितने भाव होते हैं, सब परमात्मासे होते हैं।' अब कहते हैं कि 'आधिदैविक और आधिभौतिक भाव भी परमात्मासे ही होते हैं।'

महर्षयः सप्त : ये ऋषि सबके भीतर होते हैं और बाहर भी—

यस्माद् ऋषन्ति ते भूमा महान्तो सर्वतो गुणैः।

इन्हें सद्गुणमूलक यश मिला है। देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि आदि कई भेद ऋषियोंके होते हैं।

भगवान् कहते हैं : 'संसारमें जितने प्रवृत्ति और निवृत्तिके प्रवर्तक हैं, सब मुझसे प्रकट हुए हैं। लोक-लोकान्तरमें जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं और उनमें जो सृष्टि चलती है, वह मुझसे ही चलती है।'

मद्भावा मानसा जाताः—महर्षि सात हैं। ये सब मेरे भावसे सम्पन्न हैं अर्थात् मेरी शक्तिसे भरपूर हैं। इनका हृदय मुझसे, मेरी भावनासे भरा है। मैं इनमें हूँ और ये मुझमें। मैं

इनमें व्यापक हूँ और ये मेरे ध्यानमें मग्न हैं। 'मयि भावो येषां ते मद्भावाः'—ये सम्पूर्ण सृष्टिको मेरा रूप देखते हैं।

यस्माद्दधन्ति ज्ञानेन भगवन्तं महेश्वरम्।

ये अपने ज्ञान द्वारा भगवान् महेश्वरको जानते हैं। कण-कण और क्षण-क्षणमें भगवान्को देखते हैं। इसीसे इन्हें महर्षि कहते हैं।

इन महर्षियोंकी संख्या सात है। ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। कलियुग ४,३२,००० मानव-वर्षका होता है। इससे दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता और चौगुना सतयुग होता है। ऐसे एक हजार चतुर्युगका ब्रह्माका एक दिन मानवके ४,३२,००,००,००० वर्षका होता है। इतनी ही बड़ी ब्रह्माकी रात्रि होती है। इस दिनसे तीस दिनका महीना और बारह महीनेका वर्ष होता है। अपने इस वर्षसे १०० वर्ष ब्रह्माकी आयु होती है। ब्रह्माकी आयुके ५० वर्षको 'पर' कहते हैं। उसमेंसे एक 'पर' बीत चुका, दूसरा परार्ध चल रहा है।

संकल्पमें बोला जाता है: ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे प्रथमवर्षे प्रथमदिने प्रथमप्रहरे। अर्थात् ब्रह्माजी ५० वर्षकी आयु प्राप्त कर चुके हैं। यह उनके इक्यानवें वर्षका प्रथम दिन, प्रथम प्रहर चल रहा है। उसमें यह अट्ठाइसवीं चतुर्युगीका कलियुग है।

एक-एक ब्रह्माण्डके प्रत्येक मन्वन्तरमें सात ऋषि होते हैं। वे धर्मको बनाये रखनेका काम करते हैं। धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप द्विविध होता है। इसी प्रवृत्ति-धर्मके आचार्योंको 'सप्तर्षि' कहते हैं।

निवृत्ति-धर्मके आचार्योंको 'पूर्वे चत्वारः' कहा है। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चार निवृत्ति-धर्मके आचार्य

हैं। ये भी अपने उपदेश और आचरण द्वारा धर्मकी स्थापना करते हैं।

सप्तर्षि सन्तान भी उत्पन्न करते हैं और उन्हें धर्मोपदेश भी करते हैं।

ब्रह्माके एक दिनमें जो चौदह मन्वन्तर होते हैं, उनमें पहला मन्वन्तर स्वायम्भुव मन्वन्तर है। उसमें सप्तर्षि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ हुए। यहाँ इन्हींसे तात्पर्य है। वैसे प्रत्येक मन्वन्तरमें सप्तर्षि होते हैं; किन्तु जिन्हें ब्रह्माजीका मानसपुत्र माना जाता है, वे 'मानसा जाताः' स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं।

सभी ऋषि तो गृहस्थ होते हैं, सन्तानोत्पादन करते हैं। तब निवृत्ति-धर्म कहाँसे चलेगा ? इसलिए निवृत्ति-धर्मके आचार्य 'पूर्वे चत्वारः' सनकादि कुमार हैं। ये ब्रह्माके सबसे बड़े पुत्र हैं।

शंका होती है कि यहाँ तो 'येषां लोक इमाः प्रजाः' का वर्णन है। सनकादिसे प्रजा कहाँ उत्पन्न हुई ? बात यह है कि प्रजा या सन्तान दो प्रकारकी होती है : १. बिन्दुसन्तति और २. नाद-सन्तति। पितासे उत्पन्न पुत्र बिन्दुसन्तति है और गुरुका शिष्य नाद-सन्तति है। गुरु बतलाता है : 'तुम भगवान्‌के आध्यात्मिक जगत्‌में सेवक, सखा, माता-पिता या सखी हो। इस प्रकार जैसे माता-पिता भौतिक शरीरको जन्म देते हैं, वैसे ही गुरु साधक-शरीरको जन्म देता है। इसीलिए कहते हैं :

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षाद् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात् गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु शिव है और गुरु साक्षात्पर-ब्रह्म है; क्योंकि गुरुने उसके सूक्ष्मदेह—साधकदेहको जन्म दिया, अतः सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना। उसीने उपदेश करके पालन किया, अतः पालक विष्णु हुआ। शिष्यके जीवनमें जितने दोष थे, उन्हें मिटानेवाला रुद्र भी वह है। जब उपाधि हटाकर आत्माकी दृष्टिसे देखते हैं तो गुरु साक्षात् परमब्रह्म है। इस प्रकार निवृत्तिके आचार्य भी पिता हैं। उपनिषद्में आया है :

त्वं नः पिता स भवान् तमसः पारं पारयसि।

आप हमें तमस्के पार ले जाते हो, अतः हमारे पिता हो। अतएव 'पूर्वे चत्वारः येषां लोक इमाः प्रजाः' यह गुरु-शिष्यरूपमें सन्तान चलानेका वर्णन है।

महर्षि लोग स्वयं धर्म-पालन कर दिखलाते हैं; क्योंकि स्वयं पालन न किया जाय तो बतलानेमात्रसे धर्ममें किसीकी रुचि नहीं होती। केवल आज्ञा देनेसे धर्मानुष्ठान नहीं होता। धर्मानुष्ठान करानेके लिए स्वयं आचरण करनेकी आवश्यकता होती है। ये सात महर्षि और 'पूर्वे चत्वारः' भगवान्के संकल्पसे प्रकट हुए।

सप्त पूर्वे : सात पूर्व इन्द्रियाँ हैं। दो कान, दो नाक, दो नेत्र और जीभसे सात ऋषि शरीरमें बैठे हैं। व्यक्तिके अन्तःकरणमें जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार हैं, वे 'पूर्वे चत्वारः' हैं।

धर्मके दो भेद क्यों हो गये, जब कि प्रवृत्ति-धर्मके पालनसे जो फल मिलता है, वही निवृत्ति-धर्मके पालनसे भी मिलता है? धर्ममें अपनी वासनाओंका नियन्त्रण करना ही पड़ता है, फिर चाहे वह प्रवृत्ति-धर्म हो या निवृत्ति-धर्म। जैसे युद्धभूमिमें जो सम्मुख युद्ध करके मरता है, वह सूर्यमण्डल का भेदन कर ब्रह्मगति पाता है :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

क्योंकि एकने निवृत्ति-धर्मका ठीक-ठीक पालन किया तो एकने प्रवृत्ति-धर्मका। तब धर्म दो प्रकारका क्यों है?

दो फलोंके लिए दो धर्म नहीं, दो अधिकारियोंके लिए दो धर्म हैं। लेकिन फलात्मक जो ब्रह्म है—ईश्वर है, उसमें कोई भेद नहीं है।

वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोऽभयलक्षणम्।

वैराग्य और रागकी उपाधिके भेदसे शास्त्रने दो प्रकारके धर्मोंका वर्णन किया है। किसीके अन्तःकरणमें वैराग्य सहज होता है तो किसीके मनमें सहज राग। इन्हीं दोनों प्रकारके अधिकारियोंके लिए धर्म दो प्रकारके हैं। शास्त्र-दृष्टिसे राग-वैराग्यमेंसे कोई श्रेष्ठ-कनिष्ठ नहीं।

प्रश्न होगा कि संसारमें, शास्त्रमें तो निवृत्ति-धर्मकी ही सर्वत्र प्रशंसा है, उसे ही श्रेष्ठत्व दिया गया है। ऐसा क्यों? उत्तर है—यह प्रशंसा गृहस्थ करता है, क्योंकि जब वह देखता है कि हम बिना संग्रह, बिना घर, बिना वस्त्र नहीं रह सकते और कोई इनके बिना रह पाता है तो सहज ही उसमें उसकी श्रद्धा होती है। फलतः वह उसकी प्रशंसा करता है। निवृत्ति-धर्मको श्रेष्ठ माननेसे प्रवृत्ति-धर्मवाला संसारकी आसक्तिसे बचता है।

निवृत्ति व्यक्तिगत धर्म है, सामाजिक धर्म नहीं।

सब सर हंस न होंहि होंहि मृगराज न बन बन।

यह तो काल-प्रभाव है कि जो अकेले रहकर भजन करने घरसे निकले थे, वे सम्प्रदायके नामपर, अखाड़े या गुरुके नामपर

झुण्डके झुण्ड हो गये। झोपड़ी-कुटीके नामपर बड़े-बड़े महल बन गये। इस भीड़से अनेक प्रवृत्तियाँ हो गयीं। फिर भी धर्मके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

रागवान् अधिकारी प्रवृत्तिका पालन करता है। अपनी इन्द्रियोंको धीरे-धीरे वशमें करके भगवान्की उपासना, योगाभ्यास या वेदान्त द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

जो वैराग्यप्रधान अन्तःकरणवाला है, उसे संसारमें विक्षेप बहुत होता है। अतः वह एकान्तमें रहकर भजन करके परमात्माको प्राप्त करता है। फिर भी बिना वैराग्यके कभी घर-द्वार छोड़ना नहीं चाहिए। ऐसा करनेवाला 'आरूढ-पतित' हो जाता है। शास्त्रमें वर्णन है—जो पूर्ण वैराग्य हुए बिना भिक्षाद्वारा जीवन-निर्वाह करने लगता है, उसका अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है।

मनवस्तथा : प्रवृत्ति-धर्मके आचार्य सप्तर्षि हैं और निवृत्ति-धर्मके आचार्य चारों कुमार हैं। अब इन दोनों द्वारा बतलाये धर्मोंमेंसे एकपर भी कोई ठीक-ठीक न चलें, तो उन्हें ठीक मार्ग-पर रखनेके लिए मनु हैं, जो शासक हैं।

ब्रह्माके एक दिनमें इकहत्तर चतुर्युगी बीत जाती हैं। इनमें मनु कालके अवयव हैं। काल प्रत्येक समय तुम्हारी स्वच्छन्द प्रवृत्तिमें रुकावट डाल रहा है।

मनु और मनु-पुत्र स्वयं धर्मका पालन करते हैं और जो धर्मका पालन नहीं करते, उन्हें दण्ड देते हैं। कौषीतकी उपनिषद्में कथा है कि राजा प्रतर्दनकी सहायतासे इन्द्रने युद्धमें असुरोंपर विजय प्राप्त की। विजयी होकर प्रसन्न इन्द्रने राजासे वर माँगने-को कहा। राजा प्रतर्दन बोले :

'मुझे पता नहीं कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है? आप ही वह वस्तु दें, जिसे आप सच्ची समझते हैं।'

इन्द्र : हमारी दृष्टिमें तो अपरिच्छिन्न ब्रह्मका ज्ञान ही सर्वोत्तम है।'

प्रतर्दन : 'उससे क्या होता है?'

इन्द्र : 'ब्रह्मज्ञान होने पर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक सारा झगड़ा मिट जाता है। परम स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है।'

दृष्टान्त देते हुए इन्द्रने बतलाया :

षष्टिसहस्रानरुन्तदान् यतीन् श्वापदेभ्यो प्रायच्छम्। तेन लोमापि नाम्रियत।

'साठ हजार लोग ऐसे थे, जो न व्रत करते थे और न स्वाध्याय। वे केवल दूसरोंको पीड़ा देनेके लिए साधु बन गये। मैंने उन्हें कुत्तोंसे नुचवा दिया। इससे मेरा एक रोम भी नहीं टूटा।' यहाँ तत्त्वज्ञान देनेवाला इन्द्र भी गृहस्थ है और जिसे उपदेश दिया गया, वह राजा प्रतर्दन भी गृहस्थ; किन्तु उसे ज्ञान प्राप्त हुआ।

मनु अनुष्ठान द्वारा शासन-नियन्त्रण करते हैं।

भगवान् कहते हैं, ये सब मद्भावाः मानसा जाताः—'सब मेरी भावनासे युक्त हैं। ये सब काम करते हुए देखते हैं कि भगवान् ही सब कर रहे हैं।' श्रीमद्भागवतमें आया है :

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।

जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें ईश्वरका दर्शन न होने लगे, तबतक सन्तुष्ट मत हो।

ये भगवद्भाव रखनेवाले प्रवृत्ति-धर्मके आचार्य, निवृत्ति-धर्मके आचार्य और दण्ड देकर प्रजाको धर्मपर चलानेवाले मनु भगवान्से ही प्रकट हुए हैं। इन्हींसे सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई।

भगवान्के मनसे सप्तर्षि, चारों कुमार और मनु उत्पन्न हुए और इनके मनमें भगवान् हैं, यह योग है तथा इनसे सारी प्रजा उत्पन्न हुई, यह विभूति है। इस प्रकार भगवान्के योग तथा विभूतिसे यह सृष्टि चल रही है। ●

८. गीताका अविकम्प-योग

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ —१०.७

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि मेरी इन (दसवें अध्यायमें कथित) विभूतियों और मेरे योगको जो तत्त्वतः जानता है, निस्सन्देह वह अविकम्प-योगसे युक्त हो जाता है ।

एतां विभूतिं योगं च : कोई योगको जानते हैं, कोई विभूतिको तो कोई योग और विभूति दोनोंको जानते हैं । कोई इन्हें तत्त्वतः जानते हैं । योग एवं विभूति दोनोंको न जानना संसारी पुरुषकी स्थिति है । देवतादि भगवान्का वैभव जानते हैं ।

काशीमें एक सिद्धमाताका आश्रम है । वे अब जीवित नहीं हैं । जब जीवित थीं और ध्यानमें बैठतीं तो उनके शरीरपर स्थान-स्थानपर वह मन्त्र उभड़ आता, जिस मन्त्रका वे जप किया करती थीं ।

ध्यानमें बड़ा प्रभाव है । मनुस्मृतिमें आया है कि सारी सृष्टि ध्यानसे बनी है । ब्रह्माने ध्यान किया और यह सृष्टि बन गयी । श्री गौडपादाचार्य माण्डूक्य-कारिकामें कहते हैं :

यद्भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।

ज्ञानी पुरुष जिसे जो दिखलाना चाहे, वह दिखला सकता है ।

योगं च : यह योग क्या है ? गीताके नवम अध्यायमें एक योग है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥–९.४-५

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् मुझ अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है। सब प्राणी मुझमें है, मैं उनमें नहीं हूँ और प्राणी मुझमें नहीं हैं। यह मेरा ईश्वरीय योग देखो कि मैं आत्मस्वरूपसे प्राणियोंका भरण एवं भावन करता हूँ; किन्तु उनमें नहीं हूँ।' यही भगवान्का ऐश्वर्य-योग है।

संशय-विपर्ययरहित होकर परमात्माके साथ अविकम्प—अविचल योग प्राप्त करनेके लिए परमात्माकी विभूति और योगका तात्त्विक ज्ञान अपेक्षित है। परमात्माकी विभूति और योगको जब ठीक-ठीक समझेंगे तब परमात्माके साथ अविकम्प-योग प्राप्त होगा।

जलकी आत्मा रस है, पर रसमें जो खट्टा, नमकीन, मीठापन है, वह जलका वैभव है। जलकी रसात्मकता उसका योग है। उपाधिके योगसे वैभव होता है। गन्ध पृथ्वीकी आत्मा है। नाना प्रकारके इत्र उसकी विभूति हैं। अग्निकी दाहकता उसकी आत्मा है। उससे जलना उसकी विभूति है। सूर्यकी प्रभा उसकी आत्मा है। उससे इन्द्रधनुष बनना उसकी विभूति है। इसी प्रकार सृष्टिकी अचिन्त्य-रचना परमात्माका वैभव है।

'पॉल ब्रिण्टन' भारत आया था। उसने पीछे एक पुस्तक लिखी 'भारतीय योगी'। वह श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके पास गया और बोला: 'कोई चमत्कार दिखलाओ।' बाबा बोले: 'पिताके पेटसे निकला एक बूँद पानी! वही चल रहा, खा रहा, बोल रहा

है। इसे हम चमत्कार नहीं मानते तो हम इससे बड़ा कोई चमत्कार नहीं दिखा सकते।'

यह ईश्वरकी अचिन्त्य विभूति है। एक बीजमें कितने वृक्ष समाये हैं, यह गणना करके कोई बतला सकता है? एक बीजसे उत्पन्न सब बीज बो दो। इस क्रमसे उसकी एक सौ पीढ़ी चले तो कितने बीज होंगे, कोई गिन सकता है? यही ईश्वरका वैभव है।

विभूति विज्ञानका विषय है, लेकिन योग या आत्मा विज्ञानसे नहीं जाना जाता। यह पृथ्वी है, यह हमारे सारे व्यवहारोंका आधार है, यह प्रत्यक्ष है। किन्तु आकाशमें आकाशकी दृष्टिसे इसकी कोई सत्ता नहीं है। ऐसे ही परमात्मामें सृष्टिकी सत्ता नहीं, वह उसका वैभव है।

न च मत्स्थानि भूतानि : यह ईश्वरका योग है अर्थात् ईश्व के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं।

जथा अनेक भेस धरि, नृत्य करै नट कोय।
सोइ सोइ भाव दिखावइ, आपुन होइ न सोय॥

'सोइ सोइ भाव दिखावइ' यह वैभव है और 'आपुन होइ न सोय' यह योग है। श्रीमद्भागवतमें इसका मूल है :

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।

एक चेतन कैसे अनेक रूपोंमें होता है, इसे समझना ही तत्त्वतः समझना है।

स्वामी रामने एक व्याख्यानमें कहा था : 'मनुष्य जब सत्यका विचार करने लगता है तो अपनी जाग्रदवस्थाके दृश्योंको तो

स्वीकार करता है, किन्तु स्वप्न तथा सुषुप्तिके सत्यको सत्य नहीं स्वीकार करता तो उसका विचार एकांगी रह जाता है।'

हमने देखा है कि स्वप्नावस्थामें एक ही चेतन तत्त्व संस्कारोंसे युक्त होकर शत्रु-मित्र, जड़-चेतन, चर-अचर सब बनता है। उपनिषद्में आया है: स्वप्ने देवः स्वमहिमानमनुभवति। स्वप्नमें आत्मदेव अपनी महिमाका अनुभव करते हैं।

तत्त्वमें दो वस्तुएँ हैं: तत्+त्वं–तत् त्वं ध्यान इति तत्त्वतः। 'तत्त्वमसि' में जो 'तत्' 'त्वं' है, उसके द्वारा विचार करो, तब तत्त्व आये। तत्+स च+स च=तत्त्व। जगत्, जीव, ईश्वर, इन तीनोंका जो रहस्य है, वह तत्त्व है। अनारोपिताकारं तत्त्वम्।

तात्पर्य यह कि बहिरिन्द्रिय नेत्र, श्रोत्रादि एवं अन्तरिन्द्रिय मन, बुद्धि, चित्तसे जो ज्ञान होता है उसका अपवाद कर दो। सम्पूर्ण ऐन्द्रियक, मानस एवं बौद्धिक जानकारियोंका अपवाद कर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंके धर्मोंका तिरस्कार कर जो बचता है, वह तत्त्व है। केवल सृष्टि, स्थिति, प्रलयके कारणरूपमें ही नहीं, कारणसे परेको तत्त्वतः जो जानता है, सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते। परमात्माका अविकम्प-योग जाग्रत्-स्वप्नमें तो प्राप्त है ही, सुषुप्तिमें भी प्राप्त रहे। मरते समय भी प्राप्त रहे और जीवनमें भी। ध्यानके समय भी रहे, व्यवहारके समय भी। वनमें भी रहे, घरमें भी। इससे वियोग नहीं होता।

सोवत बैठत परे उताने। कहै कबीर हम वही ठिकाने॥

जो परमात्माको ठीक-ठीक पहचान लेता है, वह हर हालतमें उसे पहचानता है।

परमात्माके साथ यह अविकम्प, अविचल योग कैसे हो? तब हो, जब परमात्मा ही सब कहीं हो, सब समय हो, सबके रूपमें हो। परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु न हो, तब तो वह मिला-मिलाया रहेगा। कहीं हो, कहीं न हो; कभी हो, कभी न हो; किसी रूपमें हो, किसीमें न हो तो कभी परमात्मा छूट भी जाया करेगा। इसी बातको समझानेके लिए परमात्माकी जगत्कारणताका निरूपण किया जाता है।

वेदान्त कहता है: 'परमात्मासे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। यह वर्णन हम जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय बतलानेके लिए नहीं, परमात्माकी अद्वितीयताका प्रतिपादन करनेके लिए करते हैं। यह वर्णन तटस्थ-लक्षण है, वास्तविक लक्षण नहीं।' इसीसे जहाँ-जहाँ सगुण ईश्वरका वर्णन है, वहाँ-वहाँ तो स्रष्टा, पालक, संहारकके रूपमें वर्णन आया है। किन्तु जहाँ परमात्माके निर्गुण रूपका वर्णन आया है वहाँ सृष्टि, स्थिति, लयको प्रधानता नहीं दी गयी है।'

जैसे गीतामें भगवान्‌के दो रूपोंका वर्णन है—एक भजनीय रूप और दूसरे ज्ञेयरूप। तेरहवें अध्यायमें अमानित्व, अदम्भित्व आदि लक्षणोंसे युक्त जो अधिकारी जिज्ञासु हैं, उनके लिए ज्ञेयं यत्तद् प्रवक्ष्यामि कहकर जब परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया, तब—

> अनादिमत्परं ब्रह्म न तत् सन्नासदुच्यते।
> सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्॥
> सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।
> सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्॥

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च॥—१३.१२-१५

परम ब्रह्म अनादिमत् है। उसे न सत् कहा जाता है, न असत्। उसके पाणि-पाद सर्वत्र हैं, सर्वत्र आँखें, सिर और मुख हैं। सर्वत्र उसके कान हैं। सबको ढँककर वह स्थित है। सब इन्द्रियोंके गुणोंका वह आभास है और सब इन्द्रियोंसे रहित है। असक्त होकर भी सर्वभृत् है। निर्गुण है और गुणोंका भोक्ता भी है। चर, अचर सभी प्राणियोंके बाहर-भीतर भी वह है।

यहाँ कार्य-कारणभावका निरूपण नहीं किया है। यहाँ तो कहते हैं: यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। उसे जान लेनेमात्रसे अमृतकी प्राप्ति हो जाती है। यहाँ अद्वितीय, अखंड परमात्माका निरूपण किया गया है।

जहाँ भजनीय भगवान्का वर्णन आता है, वहाँ सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वकारण परमात्मा का वर्णन होता है।

'जो कुछ है, सब ईश्वर है। ईश्वरके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं' इस रूपमें जो एकबार ईश्वरको जान लेता है, उसकी दृष्टिसे ईश्वर कभी ओझल नहीं होता। अतः जो विद्वान् होते हैं, वे ईश्वरको पहचाननेका प्रयत्न करते हैं।

भगवान् कहते हैं—नात्र संशयः। इसमें संशय नहीं।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।

श्रीकृष्ण कहते हैं: 'अर्जुन मैं प्रसन्न होकर तुम्हारी भलाईके लिए व्यक्तगत रूपसे तुम्हें यह बतलाता हूँ; क्योंकि इससे तुमको तृप्ति होती है।'

एक स्थानपर भगवान्‌ने कहा :

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यमिदमुत्तमम् ।

'तुम मेरे भक्त हो, सखा हो, इसलिए यह उत्तम रहस्य बतला रहा हूँ। जो भक्त नहीं, सखा नहीं, वह इसे कैसे समझेगा ?'

तो दूसरे स्थानपर कहा :

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।

'अर्जुन! जैसे तुम्हारा इष्टदेव मैं हूँ, वैसे ही मेरे इष्टदेव तुम हो। तुम मुझे अत्यन्त अभीष्ट हो, इसलिए तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। जैसे यज्ञादि द्वारा ब्राह्मण इन्द्रादि देवताओंका भजन करते हैं—इष्ट करते हैं, वैसे ही तुम मेरे इष्ट हो। मैं तुम्हारी सेवा कर रहा हूँ।'

श्रीकृष्णने गीताके अन्तमें कह दिया :

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

'यह ज्ञान तुम उसे मत देना जो तपस्वी न हो। जो भक्त न हो, उसे कभी मत देना। जो सेवा न करे, उससे भी मत कहना और जो मुझमें दोष देखे, उसे भी मत देना।'

श्रुति कहती है कि यह बुद्धि तर्कसे प्राप्त करनेकी नहीं है : नैषा तर्केण मतिरापनेया। श्री भगवान् भी अर्जुनसे कहते हैं : 'यह बात सबसे कहनेकी नहीं, तुमसे कह रहा हूँ।' भगवान्‌की विभूति और योगको जो तत्त्वतः जान लेता है, उसका भगवान्‌से अविकम्प, अविचल योग हो जाता है। ●

६. बुद्धिमान् भजन करते हैं

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥—१०.८

भगवान् कहते हैं कि मैं सबका कारण हूँ और सब मुझसे प्रवर्तित होता है, ऐसा मानकर बुद्धिमान् भावपूर्वक मेरा भजन करते हैं। अहं सर्वस्य प्रभवः—सबका उपादानकारण मैं हूँ। मत्तः सर्वं प्रवर्तते—सबका निमित्तकारण मैं हूँ। इस प्रकारका वर्णन गीतामें बहुत स्थानोंपर है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

ईश्वर जगत्का निमित्तोपादान करण है। इसका अर्थ यह है कि चेतन और जड़का भेद नहीं है। जिसे हम जड़ कहते हैं, वह मूलरूपमें चेतन ही है। जिसे हम चेतन कहते हैं, वह अपने मूलरूपमें सत्ता है। जब चेतन निष्क्रिय, निःसंकल्प, निर्विशेष, निर्धमंक है, तब वह सत्तासे विलक्षण कहाँ है? सभी वही है और सबको नचानेवाला भी वही है।

अहं सर्वस्य प्रभवः—'सर्वदेशस्य, सर्वकालस्य, सर्ववस्तुनः।' सब देश, सब काल, सब वस्तुओंका प्रभव यानी उपादानकारण मैं हूँ।

मत्तः सर्वं प्रवर्तते : सबका हिलना-डोलना, चलना-फिरना, बोलना सब उसीसे हो रहा है। कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक सबको

उत्पत्ति उसीसे हुई है और सबके शरीरोंमें जीवरूपमें वही स्थित हो सञ्चालन कर रहा है। शरीरमें बैठा 'मैं' स्वतन्त्र रूपसे हाथ नहीं हिलाता। ईश्वर न होता तो क्या वह हाथ हिला पाता?

वेदान्तकी एक रीति यह है कि पहले सम्पूर्ण सृष्टिको परमात्माके रूपमें पहचानो और फिर अपने रूपमें। ईश्वरके रूपमें सृष्टिको पहचाननेसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होकर अन्तःकरणकी शुद्धि हो जायगी। फिर अपने रूपमें पहचान लो।

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' : आप फूलको सूर्यके प्रकाशमें नेत्रसे देखते हैं। फूल आदि समस्त दृश्योंके रूपोंमें जो प्रकृति है, वही आधिभौतिक ईश्वर है। फूल जिस सूर्यके प्रकाशमें दीख रहा है, उन सूर्य, चन्द्र, इन्द्रादिकी समष्टि आधिदैविक ईश्वर है। नेत्रके पीछे रहकर जो फूलको देखता है, वह आध्यात्मिक ईश्वर है।

आधिदैविक भावोंका स्फुरण-कर्ता ईश्वर है। आध्यात्मिक भावोंका स्फुरण-कर्ता जीव है तो आधिभौतिक भावोंकी स्फुरण-कर्त्री है प्रकृति। इनमें सत्ताका स्फुरण अधिभूत प्रकृतिमें, चित्‌का स्फुरण अध्यात्म जीवमें, आनन्दका स्फुरण अधिदेव ईश्वरमें होता है। तीनोंमेंसे नाम-रूपको हटा दें तो एक अद्वितीय परमात्मा ही तीनों रूपोंमें है। उस अद्वितीय परमात्माका ज्ञान होनेपर नाम-रूप सत्ता-शून्य हो जायँगे।

हम नेत्रसे फूल देखते हैं और सूर्यके प्रकाशमें देखते हैं। मनसे देखते हैं कि 'हम सुखी या दुःखी हैं।' इनमें नेत्रस्थानीय 'हम' हैं। दुःखीपन या सुखीपन फूलके स्थानपर है। लेकिन सूर्य-प्रकाशके स्थानपर वहाँ कौन है? हृदयमें जो सूर्यके स्थानपर प्रकाश देता है, उसीको चित्तका अधिदेव 'वासुदेव' कहते हैं। वही ईश्वर है।

उसीके प्रकाशसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अपना-अपना कार्य करते रहते हैं।

'अहं सर्वस्य प्रभवः'—अन्तर्मुख होनेके लिए भगवान् ने दो आलम्बन बतलाये : १. कार्य-दृष्टि नहीं, कारण-दृष्टि हो—'मैं सबका प्रभव हूँ' और २. प्रेरकपर दृष्टि रहे—'मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'

जैसे हाथके पीछे रहकर कोई हाथ हिला रहा है, वैसे ही सृष्टिके पीछे रहकर कोई इसे चला रहा है। उसकी ओर ध्यान ले जाओ। यह पञ्चभूतोंसे बनी सृष्टि दीख रही है; किन्तु इस पञ्चभूतके पीछे परम कारण अव्यक्त परमात्मा है। ईश्वरका भजन करनेके लिए बहिर्मुखसे अन्तर्मुख होना आवश्यक है। इसमें कारण-दृष्टि और प्रेरक-दृष्टि होनी चाहिए।

जो यह मानते हैं कि जितना इन्द्रियोंसे दीखता है, उतना ही सत्य है, उनसे पूछो : 'इन्द्रियाँ कैसे दीखती हैं?' नेत्रोंसे कान, नाक आदि इन्द्रियाँ नहीं, केवल इन इन्द्रियोंके गोलक दीखते हैं। इन्द्रियाँ जानी जाती हैं मनसे। इसलिए जितना दीखता है, उतना ही सत्य माननेपर किसीका भी काम नहीं चलेगा। विद्वान्की दृष्टि उस परम कारणपर जाती है।

इति मत्वा भजन्ते माम् : 'अहम्, अहम्' को ढूँढ़ते जायँ तो ज्ञानमात्र रहेगा; क्योंकि अपनी मृत्युका किसीको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। 'मैं अज्ञान हूँ' यह भी प्रत्यक्ष नहीं होगा; क्योंकि यह भी ज्ञानसे ही जाना जाता है। इसका अर्थ है कि आत्मा सच्चित्-स्वरूप है।

'अहं' को ढूँढ़नेपर आत्मा अविनाशी एवं प्रकाशस्वरूप मिलेगा। फिर शरीरसहित पञ्चभूतोंके मूलका अनुसन्धान करो,

तो वही अविनाशी और परिपूर्ण मिलेगा। उसीमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके उदय और विलय हो रहे हैं। वह शक्तिमान् सत् है, यह पता लगेगा। अधिष्ठान सर्वभवन-सामर्थ्यवान् सत् है। उसे 'ईश्वर' कहते हैं। 'अहं' स्वयंप्रकाश चेतन है, उसे 'आत्मा' कहते हैं। उपाधिको छोड़ देनेपर वह ईश्वर यदि यह आत्मा न हो, तो जड़ हो जायगा और यदि यह आत्मा वह ईश्वर न हो तो परिच्छिन्न होगा। अतएव महावाक्य दोनोंकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। अधिष्ठानरूपसे सम्पूर्ण जगत्का कारण है आत्मा और आत्माके रूपसे ब्रह्म है स्वयंप्रकाश चेतन—यह जानकर बुद्धिमान् भजन करते हैं।

जिनमें भक्तिके संस्कार नहीं, वे वेदान्ती भजनका नाम सुनकर घबड़ाते हैं। लेकिन तुम ज्ञानके बाद दूकान जानेसे, व्यापार करनेसे या बीबी-बच्चे जननेसे नहीं घबड़ाये तो भक्ति आते ही क्यों घबड़ाते हो? तुम्हारी सारी सृष्टि ज्ञानके बाद ही चल रही है तो ज्ञानके बाद भगवान्का भजन आया तो उसमें घबड़ानेकी क्या बात है?

यं सर्वे नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।

ईश्वरके सामने क्या मुमुक्षु और क्या ब्रह्मवादी, सभी झुकते हैं। कारण देह, इन्द्रिय आदि जो प्रतिभानमात्र हैं, वे अपने कारण द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः—'बुध' भावसे युक्त होकर भजन करते हैं। उनमें भाव भी है, बुद्धिमत्ता भी और वे भगवान्का भजन करते हैं। 'बुध अवगमे'—जिसमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद नहीं है, वह बुध है। ऐसे बड़े-बड़े बुध भावसमन्वित होकर जिससे भगवान्का भजन करते हैं, वह कौन-सा ज्ञान है? हृदयमें भाव

नहीं रहा तो केवल बातचीतकी निपुणता या बुद्धिकी सूक्ष्मतासे परमार्थ-ज्ञान कैसे होगा? बुध लोग परमार्थ तत्त्वको जाननेपर भी भावयुक्त होकर भगवान्‌का भजन करते हैं।

गोपालतापिनी-उपनिषद्‌में आया है: किं नाम भजनम्? भजनं नाम रसनम्। अर्थात् भजन किसे कहते हैं? भजन कहते हैं रसास्वाद लेनेको।

एक महात्माके पास एक व्यक्ति जाकर बोला: 'मुझे ईश्वरका दर्शन करा दो।' महात्मा बोले। ही नहीं। वह पुन: कहने लगा: 'जबतक ईश्वरका दर्शन न कराओगे, भोजन नहीं करूँगा।' वह वहीं बैठकर अनशन करने लगा। दो दिन बीत गये। तीसरे दिन महात्माको क्रोध आया। डंडा उठाया और बोले: 'ईश्वर तुम्हारे सामने कितना प्रकट हो रहा है—सूर्यमें जो प्रकाश है, पृथ्वीमें जो दृढ़ता है, चन्द्रमामें जो आह्लाद है, जलमें जो रस है, अग्निमें जो तेज है, वह सब ईश्वर ही तो है। इतने रूपोंमें तुमने उसकी कितनी सेवा की है कि वह अब तुम्हें एक और रूपमें मिलने आये?'

भजन्ते मां बुधाः—जब समझदार मनुष्य यह जान लेता है कि ईश्वर ही सब है, तो वह भावसहित भजन करने लगता है।

जब तुमने जन्म लिया तो जन्मके साथ ईश्वर मिला। माता और धायने जो तुम्हें गोदमें लिया, वह ईश्वर ही तो था। तुम्हारे मुखमें जब अन्न डाला गया, तो वह ईश्वर ही था। जिस पिताने तुम्हें पाला, जिस ब्राह्मणने तुम्हारे संस्कार कराये, वह ईश्वर ही था। लेकिन तुमने ईश्वरसे मेल-जोल कहाँ किया? तुम तो ईश्वरको संसार समझते रहे। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्माको जड़-जगत् मानते रहे। लेकिन विद्वान् जब समझते हैं कि सबका

निमित्तोपादान कारण परमात्मा ही है, तब उनका हृदय भावसे भर जाता है। वे भजन करते हैं।

काशीमें हम लोग कभी-कभी एक संतके पास जाते थे। एक-बार गये और पूछा : 'ईश्वर कहाँ है?'

वे बोले : 'मैं हूँ।'

हम : 'ईश्वर तो वह होता है जो सृष्टि बनाये।'

वे : 'यह तुमने कहींसे सुन रखा है।'

हम : 'अच्छा, आप ईश्वर हो और हमें मिल गये, तो अब तो हमारा कोई कर्तव्य नहीं रहा?'

वे : 'कर्तव्य क्यों नहीं रहा?'

हम : 'कौन-सा कर्तव्य शेष है?'

वे : 'हमसे प्रेम करो।'

कोई मनुष्य राह चलते मिल जाय तो उसका मिलना ही पर्याप्त नहीं, उससे प्रेम होना चाहिए। जब यह समझमें आ गया कि यह नाम-रूपात्मक सृष्टि परमात्मा ही है तो वह प्रेमका समुद्र हो गया। वह तो सबको प्रेम ही प्रेम देगा।

स्मरण रहे कि यह भजन बुद्धियोगकी प्राप्ति और अज्ञान-निवृत्तिके भी पहले है; क्योंकि इसके फलस्वरूप भगवान् बुद्धियोग देते हैं। बुद्धियोगके पश्चात् वे प्रकट होकर ज्ञान देंगे और ज्ञान देनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी।

'इति मत्वा भजन्ते माम्' : भजन्ते सेवन्ते। 'भज्' धातुका अर्थ है सेवा और इसमें जो प्रत्यय है, वह विश्वासार्थक है। सारांश, विश्वाससे भरकर वे भजन करते हैं। ●

१०. भजनका स्वरूप

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥-१०.९

अर्थात् मुझमें ही उनका चित्त लगा है, मैं ही उनका जीवन बन गया हूं। वे परस्पर एक दूसरेको समझाते हैं और मेरी कथा किया करते हैं। इस प्रकार वे सदैव सन्तुष्ट होकर मुझमें ही लगे रहते हैं।

मच्चित्ताः—'मयि चित्तं येषां ते मच्चित्ताः; मद्गताः प्राणाः येषां ते मद्गतप्राणाः।' महात्मा इस तरह भजन करते हैं कि उनका चित्त भगवान्में ही लगा रहता है।

गीतामें मन और बुद्धि दोनोंके लिए 'चित्त'-शब्द आता है :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

मुझमें ही मन रख दो और मुझमें ही बुद्धि प्रविष्ट करो। यहां मन और बुद्धि दोनोंका अर्थ चित्त है। कारण आगे कहते हैं :

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

'यदि तुम मुझमें स्थिररूपमें चित्त (मन एवं बुद्धि) को न रख सको तो…।' 'चित्त'का अर्थ है राशि-राशिसंस्कार-विशिष्ट ज्ञान। संस्काररहित ज्ञान 'चित्' कहा जाता है।

इस तरह 'मच्चित्ता:' का अर्थ हुआ—मुझमें मन भी लगा हो और बुद्धि भी। भगवान्‌में मन लगाना उनके सौन्दर्य आदि गुणोंका चिन्तन है। जैसे : 'श्यामसुन्दर क्या मुस्करा रहे हैं, क्या सौन्दर्य है, क्या साँवला-सलोना रंग है, क्या पीताम्बर है!'

'निमित्तकारण' वह कहलाता है, जो किसी वस्तुको बनाये। जैसे कुम्भार घड़ेको बनाता है। 'उपादान कारण' वह है, जिससे वह बना हो। जैसे घड़ा मिट्टीसे बना है। ईश्वर सृष्टिका बनानेवाला निमित्तकारण तो है ही, सिवा उस समय दूसरा कुछ भी नहीं था, अतः स्वयं वही सृष्टि बना; इसलिए सृष्टिका उपादान कारण भी ईश्वर है। फिर भी चेतन जड़ कैसे बनेगा? द्रष्टा दृश्य कैसे बनेगा? अतः कहना होगा कि 'वास्तवमें वह जड़ बना नहीं, मायासे ही अपनेको जड़ दिखा रहा है।' यही है ईश्वरमें बुद्धि लगाना।

भक्त परमात्मामें मन लगाते हैं, बुद्धि नहीं। वेदान्ती बुद्धि तो लगाते हैं, पर मन नहीं। कोई-कोई गीताको तो बहुत मानते हैं; पर गीता-वक्ताका ध्यान नहीं करते। कहते हैं : 'रूपका ध्यान क्या करना?' यह बुद्धि लगाना और मनको दूर रखना है।

कोई-कोई रूपका ध्यान खूब करते हैं, पर कहते हैं : 'गीता तो बहिरंग भक्त अर्जुनके लिए कही गयी है। हम तो निकुञ्जके सखीभावमें रहते हैं। हम गीता क्यों पढ़ें?' यह मन लगाना और बुद्धिसे बचना है।

वस्तुतः ठीक यही है कि भगवान्‌से प्रेम करो और भगवान्‌के स्वरूपका विचार भी करो। भगवान्‌में मन और बुद्धि दोनों लगाओ। मन-बुद्धि दोनों लगेंगे तभी पूरा चित्त लगा कहा जायगा।

मच्चित्ताः—अहं चित्ते येषां ते मच्चित्ताः, मयि चित्तं येषां ते मच्चित्ताः। अर्थात् मैं जिनके चित्तमें हूँ और मुझमें जिनका चित्त है, वे 'मच्चित्त' हैं। एक वह, जिसने अपने हृदयमें भगवान्‌को बसा लिया है—मनमें भगवान् ही रहते हैं। दूसरे वे, जिनका भगवान्‌में चित्त रहता है। भगवान् आधार हैं और चित्त है आधेय।

एक सिपाही यातायात-नियन्त्रण करता है। वह उन करोड़-पति, अरबपतियोंकी मोटरें भी रोक सकता है, जिनके यहाँ ऐसे नौकर होते हैं जो उस जैसे सौ-पचास नौकर रखते हैं। फिर भी वह इसीलिए उनकी मोटर रोक पाता है कि प्रशासनकी शक्ति उसके पीछे है।

एक पुलिस-मन्त्री है। पुलिसकी सम्पूर्ण शक्ति उसमें है। इसी प्रकार एक वह है, जिसने भगवान्‌को अपने चित्तमें ले लिया है। दूसरा वह है, जिसने अपने चित्तको भगवान्‌में डाल दिया है। जो शरणागत है, जिसने आत्मसमर्पण किया है। दोनों 'मच्चित्ताः' है। क्या आपका मन भगवत्सेवामें लगा है या भगवान् आपके मन-मन्दिरमें नाच रहे हैं?

'चित्त'-शब्द 'चिति संज्ञाने' धातुसे बनता है और 'चिति चयने' से भी। 'चिति संज्ञाने' का अर्थ है मालूम पड़ना, ज्ञान होना। घड़े, कपड़े आदिका ज्ञान कैसे होता है? चित्तसे होता है और उन सबका संस्कार उसमें एकत्र रहता है।

एकबार श्यामसुन्दर मनमें आये, पर मनमें कबतक रहेंगे? गये तो फिर वहीं आये—

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ।

वृत्ति कृष्णाकार हुई, शान्त हुई, फिर कृष्णाकार हुई। इस प्रकार बार-बार वृत्तिका भगवदाकार होना 'मच्चित्ताः' होना है।

जैसे दृष्टि श्रीकृष्णके चित्रपर जमा ली। पलक गिरती-उठती हैं; पर जब उठती है, श्रीकृष्ण ही दीखते हैं। ऐसे ही वृत्ति भले ही बीच-बीचमें शान्त हो, पर जब-जब वह जागे, कृष्णाकार ही बने। यही एकाग्रता है और यही ध्यान है। इसके आगे मन और भगवान् दोनों एक हो जायँगे। तब भगवान्‌का नेत्र खोलना ही हमारा देखना और उनका न देखना ही हमारा न देखना हो जायगा। हम उन्हींकी दृष्टिसे देखते हैं।

एकने संतसे कहा : 'अमुक गलत काम कर रहा है, आप उसे रोकते क्यों नहीं ?'

संत : 'भगवान् भी तो उसे देख रहे हैं, वे क्यों नहीं रोकते ? हमारा ही कोई रोकनेका ठेका है ? क्या हम कोई यमराज हैं ?'

मम चित्त एव चित्तं येषां ते मच्चित्ताः—भगवान्‌का मन ही जिनका मन है। भगवान्‌ने सृष्टि बनायी तो 'ठीक' और मिटा दी तो भी 'ठीक'। पालन करते हैं तो भी 'ठीक।' भगवान् जो कर रहे हैं सभी 'ठीक' है !

प्रतीतिका चाहे जो नाम हो और चाहे जो भी रूप, सब ठीक ही है। भूतमें प्रतीति कितनी बार बिगड़ी और भविष्यमें उसे कितना सुधरना चाहिए, इसका कोई विचार किये बिना सिनेमाके दृश्यके समान सामने जो दृश्य प्रकट हो, उसीको देखते चलो। हिरण्यगर्भमें जैसा संसार भरा है, वैसा प्रकट होता जा रहा है।

गीतामें 'मच्चित्ताः' होनेकी बड़ी प्रशंसा है। श्री उड़िया-बाबाजी महाराज कहते थे : 'बरदाश्त करते चलो।'

कोई महात्मा कहते हैं : 'देखते चलो।'

प्रत्येक वर्तमान क्षण-क्षणमें भूत होता जा रहा है। श्रीकृष्णने कहा : 'सब कठिनाइयोंपर विजय पानेका उपाय है :

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अपना मन मुझमें लगा दो। मैं तुमपर प्रसन्न हो हर समय तुम्हें दीखता रहूँगा। तुम सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे।

एक बच्चा पिताके साथ जा रहा था। इधर जाता, उधर जाता, पीछे छिपता। बीचमें सड़क आयी, बहुत-सी मोटरें निकल रही थीं। बच्चा डर गया कि सड़क कैसे पार करें? पितारूप भगवान् कहते हैं : 'मत्-क्रोडः तरिष्यसि'—'मेरी गोदमें आ जाओ तो सड़क मैं पार करा देता हूँ।' कठिनाइयाँ मनको दीखती हैं, पर मन भगवान्की गोदमें चला जाता है तो वे कठिनाइयाँ पार हो जाती हैं।

मनुष्यका जीवन मन-बुद्धिके अतिरिक्त कुछ नहीं है। नाना प्रकारके संकल्प और विचार होते हैं। मनने संकल्प किया, बुद्धिने उसकी पूर्तिका उपाय सोचा। आत्मदेव मन-बुद्धिकी उपाधिको अपनेमें आरोपित करके ही जीव बने बैठे हैं। जब मन-बुद्धि भगवान्को दे दीं, तो फिर स्वयं असंग, द्रष्टा ही हैं। समष्टि मनमें अपना मन, समष्टि बुद्धिमें अपनी बुद्धि जब निवसिष्यसि मय्येव तब यह आत्मा तो परमात्मरूप है। अतः मनमें जितने संकल्प उठें, सब ईश्वरके विषयमें और बुद्धिमें जितने विचार आयें, सब ईश्वरके विषयमें आयें।

हम अपनी मन-बुद्धि ईश्वरमें चाहे जितनी लगायें, वे वहाँसे चली ही आती हैं। बार-बार लगाते हैं तो बार-बार चली आती

हैं। चाहे जितना पक्का अभ्यास हो, पर नींदमें तो मन-बुद्धि ईश्वरसे हट ही जायेंगी। अतः यह जान लो कि प्रत्येक मन-बुद्धि चैतन्यसे अभिन्न परमात्मामें कल्पित हैं। जैसे रेतपर कोई आकृति बनी हो तो वह रेत ही है, जैसे तारक-समूहमें मेष, वृष आदि राशियोंके आकारकी कल्पना करनेपर भी वे केवल तारे ही हैं, ठीक वैसे ही हम सबकी मन-बुद्धियाँ ज्ञानात्मक अखण्ड परमात्मामें कल्पित हैं। वही अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्मा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके रूपमें प्रकट हो रहा है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

'मच्चित्ताः'—चित्त चलने-फिरनेवाला यन्त्र है। यन्त्रारूढानि मायया—ईश्वर इस चित्तका सञ्चालन करता है। आत्माका संचालन ईश्वर नहीं करता। कर्मानुसार प्रकृतिसे चित्तको व्यक्त करना, उसे सत्तास्फूर्ति देना, उसका संचालन करना, उसे अपनी ओर मिला लेना, ज्ञानदान कर चित्तको भस्म कर देना—ये सब काम अन्तर्यामी ईश्वर करता है।

आत्मा अपनेको ब्रह्म न जानकर इस चित्तके साथ तादात्म्यापन्न हो उसीको 'मैं-मेरा' समझता है। लेकिन जब ईश्वर चित्तका सञ्चालन करता है, तब वह समझता है कि ईश्वर मेरा सञ्चालन कर रहा है। चित्तके पापी-पुण्यात्मा माननेसे वह अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानता है। चित्तकी शान्त, विक्षिप्त, मूढ़ आदि अवस्थाओंको वह अपनी अवस्थाएँ मानता है।

'मच्चित्ताः' का अर्थ है कि चित्त अन्तर्यामीको समर्पित कर दो—'तुम्हारी मौज हो, वैसे उसके साथ खेलो।' चित्त ज्ञानीका हो या अज्ञानीका, उसका सञ्चालक ईश्वर ही है। तुम हाथ उठाते

और कहते हो : 'मैं हाथ उठता हूँ', लेकिन एक शरीरका ही तो हाथ उठाते हो। कीड़े या ब्रह्माका हाथ तो नहीं उठाते। सब जीव पृथक्-पृथक् शरीर धारणकर अपना-अपना हाथ उठाते, गिराते हैं। जीभसे बोलते या चुप रहते हैं। पैरसे चलते या खड़े होते हैं। सबके शरीरोंमें जिसकी शक्ति एवं बुद्धि काम कर रही है, उस सर्वशक्तिमान्को 'ईश्वर' कहते हैं। अतः चित्तका उत्तरदायी अपनेको मत मानो।

सांख्यवादी कहते हैं : 'चित्तका सञ्चालन प्रकृति करती है।'

भक्त कहते हैं : 'चित्तका सञ्चालन ईश्वर ही करता है।'

कर्मवादी कहते हैं : 'चित्तका सञ्चालन कर्मानुसार होता है।'

कालवादी कहते हैं : 'चित्तका सञ्चालन कालानुसार होता है।'

स्वभाववादी कहते हैं : 'चित्तका सञ्चालन स्वभावानुसार होता है।'

यदृच्छावादी कहते हैं : चित्तका सञ्चालन यदृच्छासे होता है।'

'मच्चित्ताः' का अर्थ है कि आप मान लो कि आपके चित्तका सञ्चालन ईश्वर करता है। वेदान्तकी दृष्टिसे भी तुम चित्तसे असंग हो। सिद्धान्त कोई मानो, उसके अनुसार तुम चित्तसे असंग ही हो। अतः अपना चित्त अन्तर्यामी ईश्वरको अर्पित कर दो—'मैं जो कुछ हूँ, जो कुछ था और जो कुछ होऊँगा, वह तुम्हारा ही था, है और रहेगा।'

'मच्चित्ताः'—छोटी-मोटी बातोंपर ध्यान मत दो। मनुष्यका अन्तःकरण छोटी-छोटी बातोंपर ध्यान देनेसे अशुद्ध होता है।

सबसे बड़े ईश्वरपर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए। किसकी नाक चपटी, किसकी नाक ऊँची, किसकी आँख छोटी और किसकी बड़ी, यह देखनेसे क्या लाभ ? देखो यह कि दोनोंके भीतर ईश्वर बैठा है। खोल मत देखो, खोल ओढ़े जो बैठा है, उसे देखो। चींटी रेतमें मिली चीनी चुन लेती है, पर तुम तो मनुष्य होकर भी रेत चुन रहे हो ?

'मच्चित्ताः'—जहाँ देखो वहाँ परमात्माको ही देखो। भागवतमें कहा है :

सर्वभूतेषु मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्काराः वियन्ति हि॥

अर्थात् सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेवाले पुरुषके अहङ्कार, स्पर्धा, असूया और दूसरोंका तिरस्कार करना—ये सारे दोष शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

यही हृदय-शुद्धिका उपाय है। सबके हृदयमें वह प्रकाश-स्वरूप हीरा जगमगा रहा है, उसीको देखो। यदि सबमें ईश्वरको देखोगे तो किसीसे होड़ नहीं करोगे। तुम्हारा अहंकार मिट जायगा। किसीके गुणमें दोष नहीं दीखेंगे। किसीका तिरस्कार नहीं करोगे।

उपासना-शास्त्रका एक रहस्य है—मूर्तिके पाषाणमें यह नहीं देखा जाता कि वह नर्मदासे आया है या गण्डकीसे किंवा किसी और स्थानसे। यह भी नहीं देखा जाता कि उसका आकार पुरुषका है या स्त्रीका किंवा वह सुन्दर बना है या असुन्दर। देखा यही जाता है कि उसे देख हृदयमें ईश्वरका स्मरण होता है या नहीं। हृदय बनाना है, मूर्ति नहीं। अनेक पुराने मन्दिरोंमें

मूर्तिको देख पाना कठिन है। जैसे : वैद्यनाथ धाम या भुवनेश्वरमें। जगन्नाथपुरीमें कौन-सी सुन्दर मूर्ति है? मन्दिर आँख सेंकनेको नहीं होते। मन्दिर होते हैं बुद्धि-निर्माणके लिए। धर्म-कर्म, तीर्थ-सत्संग तभी सफल होते हैं जब हमारी चित्तवृत्ति ईश्वराकार बनती है।

एक कथा है—एक सेठ सोनेका मन्दिर बनवा रहे थे। पासमें एक वृक्षके नीचे कोई साधु था। उसके मनमें आया—'मैं मनमें ऐसा ही मन्दिर बनाऊँ।' सेठके मन्दिरमें जितनी और जैसी सोनेकी ईंटें लगतीं, साधु भी अपने ध्यानमें वैसा बनाता। जैसा देखता गया, वैसा ध्यान करता गया। मन्दिर बन गया। सेठने मूर्ति मँगवायी तो साधुके मनमें भी मूर्ति आ गयी। प्राण-प्रतिष्ठाका मुहूर्त आया, पण्डितोंने सारा कर्मकाण्ड, न्यासादि किये और अन्तमें बोले : 'सेठजी! भगवान् तो आते ही नहीं हैं। मूर्तिमें प्राण प्रतिष्ठित ही नहीं हो रहे हैं।'

उधर वह साधु मनमें आयी मूर्तिकी प्राण-प्रतिष्ठा कर रहा था। सेठने पूछा : 'महाराज, भगवान् क्यों नहीं आ रहे हैं?'

पण्डित योग्य थे। ध्यान किया और बतलाया : 'उधर वह जो वृक्षके नीचे साधु बैठा है, उसने अपने मनमें ऐसा ही स्वर्ण-मन्दिर बनाया है। ऐसी ही मूर्ति मँगवायी है। मनमें वह भी प्राण-प्रतिष्ठा कर रहा है। भगवान् उसके मन्दिरमें चले गये।'

सेठ : 'आप मन्त्रपाठ करते रहें। उसे यही मालूम पड़े कि सेठके यहाँ प्राण-प्रतिष्ठा हो गयी। उसकी प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने दो।' ईश्वरको मनमें ऐसे ही बसाया जाता है।

मद्‌गतप्राणाः—एक सज्जन लखनऊमें एक महात्माके पास गये। उनके मनमें प्रश्न था : 'ईश्वरका भजन करें या संसारके काममें लगें?'

वे अपने साथ एक फूल ले गये थे। फूल उन्होंने महात्माको दिया। महात्मा फूल देखनेमें ऐसे लग गये कि उनकी ओर देखा ही नहीं। जब कुछ देर हो गयी तो सज्जन बोले : 'अच्छा होता, मैं यह फूल ही न लाता। आप तो इसीको देखनेमें ऐसे लग गये कि मेरी ओर देखते ही नहीं।'

महात्मा : 'लो, इसे फेंके देते हैं।'

वे : 'नहीं, नहीं। बड़े प्रेमसे लाया हूँ।'

महात्मा : 'तुम यही तो चाहते हो कि मैं तुम्हारी ओर देखूँ और फूलकी ओर भी?' तो, जिसने यह संसार दिया है, उसकी ओर देखो और उसके दिये संसारको भी देखो। इस दिये हुए में भी उसीका प्रेम प्रकट हो रहा है।

मद्‌गतप्राणाः—जिसके बिना मनुष्य मर जाय, वह प्राण है। प्राण तो सबके शरीरोंमें रहते हैं।

वर्णन आता है कि सतयुगमें प्राण हड्डीमें रहते थे : प्राणा अस्थिषु शेरते। तप करते थे तो हड्डी भी बची रहे तो उससे जीवित हो जाते थे। लेकिन कलौ अन्नगताः प्राणाः—कलियुगमें अन्नमें प्राण रहते हैं। कितना भी प्रेम हो, नियम हो; किन्तु चार दिन अन्न न मिले तो?

एक सज्जन बोले : 'अमुकके बिना मैं मर जाऊँगा।'

मैंने कहा : 'मर जाओ, लेकिन मैं कहूँ, वैसे मरो। फांसी मत लगाओ। विष मत खाओ। गोली मत मारो। पानीमें मत डूबो। रेलसे मत कटो। आगमें मत जलो।'

वे : 'तब कैसे मरूँ ?'

मैं : 'पहले छः महीने प्रतिदिन केवल एक पतली रोटी खाकर रहो, फिर उसे भी छोड़ दो।'

वे : 'यह तो नहीं हो सकता।'

यहाँ मद्गतप्राणाः का अर्थ है—मदेकजीविताः। अपना जीवन अपने प्रियतमके साथ है। उनके बिना अपनी मृत्यु है, ऐसा लगे। तुम्हारा सच्चा जीवन भगवान्‌की स्मृतिमें है। भगवान् भूल जाते हैं तो मानो 'हम मर जाते हैं।'

महात्मा गांधीजी कहते थे : 'राम-नाम तो मेरे जीवनकी खुराक है।'

इन्द्रिय, जीवन, मन, श्वास सभी प्राण हैं। अतः मद्गतप्राणाः का अर्थ है, अपना जीवन, अपनी इन्द्रियाँ, अपने प्राण, अपना मन, सब भगवान्‌को समर्पित कर देना। कारण, यह भगवान्‌से बना, भगवान्‌में रह रहा है और भगवान्‌में ही समानेवाला है। भगवान्‌के अतिरिक्त अपना जीवन कुछ भी नहीं है।

मद्गतप्राणाः—प्राण भी भगवान्‌को अर्पित कर दो। भगवान्‌ने भागवतमें कहा है :

> ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
> हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

अर्थात् जो स्त्री, घर, पुत्र, माता-पिता, प्राण, धन, यह लोक और परलोक भी छोड़कर मेरी शरण आते हैं, भला उन्हें छोड़नेका उत्साह कैसे कर सकता हूँ।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

गोपियो ! यदि मैं अमर-जीवन धारणकर कल्पपर्यन्त तुम्हारी सेवा करूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता; क्योंकि तुमने घरकी अत्यन्त कठोर शृङ्खलाएँ तोड़कर मुझसे प्रेम किया है। अतः यदि तुम अपने ही साधुस्वभावसे मुझे उऋण कर दो तो बात दूसरी है।

भक्त जब क्षणभरको भी भगवान्‌को भूलते हैं तो—

तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

भगवान्‌के विस्मरणमें अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

वही अपने जीवनमें सबसे बड़ी हानि, सबसे बड़ा अपराध है; वही अन्धा, जड़ और मूर्ख हो जाना है जो एक मुहूर्त या एक क्षण भी भगवान्‌के चिन्तनके बिना चला जाय। कोई ऐसा क्षण न जाय, जिसमें भगवान्‌का चिन्तन न हो। कोई भी ऐसा कण न हो, जिसका भगवान्‌को समर्पण न हो। प्रत्येक कण भगवान्‌के लिए हो और प्रत्येक क्षण भगवान्‌से भरपूर रहे।

बहुत-से लोग धन-दौलत चाहते हैं। कई लोग भोग तो कई धर्म चाहते हैं। कुछ लोग मोक्ष चाहते हैं। पर भगवान्को चाहनेवाले सृष्टिमें बहुत कम होते हैं। भागवतमें आया है :

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

कुछ भक्त भगवान्से एक होना भी नहीं चाहते। वे केवल भगवान्की चरण-सेवा एवं भगवान्का चिन्तन करना चाहते हैं। ऐसे भक्त परस्पर मिलकर भगवान्के चरितका वर्णन, समादर करते हैं।

देखना यह है कि तुम्हारा पुरुषार्थ क्या है? तुम अपने तन, धन, मनसे पाना क्या चाहते हो?

एक सज्जन कहते थे : 'बीस हजारसे मैंने व्यापार प्रारम्भ किया। करोड़ रुपया मेरे पास हो गया। पुत्र है नहीं। इस धनका क्या होगा, यह मैं कभी नहीं सोचता। इकट्ठा ही करता जा रहा हूँ।' उन्हें इकट्ठा करनेमें ही प्रसन्नता होती है। उनका पुरुषार्थ धन ही है।

यदि तुम्हें भगवान्के मार्गपर चलना है तो किसी धनीको धनके कारण अपनेसे श्रेष्ठ मत मानो। यदि धनके कारण तुम उसे श्रेष्ठ मानोगे तो तुम्हारी बुद्धि भी धन कमानेमें लग जायगी। किसी भोगीको भोगके कारण या धर्मात्माको धर्मके कारण श्रेष्ठ मत मानो। जिसमें भगवान्की भक्ति है, उसीको श्रेष्ठ मानो, तभी तुम्हारी भक्ति बढ़ेगी।

ऐसे हि जनम-समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ सों पति तजि, सेवत पुरुष बिराने॥

जन्मके-जन्म बीत गये, वही कर्म, वही भोग सिरपर सवार है!

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक कथा है—एक ब्राह्मण धनके लिए किसी यक्षकी आराधना करने लगा। यक्ष बड़ा दयालु था। ब्राह्मण जब सोया तो स्वप्नमें यक्ष उसे नरक ले गया। नरकमें ब्राह्मणको यक्षने अनेक नारकीय जीवोंका परिचय कराया : 'ये अमुक राजा हैं, ये अमुक सेठ हैं, ये अमुक धनपति हैं। धन पाकर तुम्हारी भी यही गति होगी।'

ब्राह्मणने कहा : 'मुझे धन नहीं चाहिए।'

यक्ष : 'तुम्हारे हृदयमें ही एक दिव्य तत्त्व है, उसीकी उपासना करो। उसीकी उपासनासे तुम्हारा कल्याण होगा।'

आपके जीवनका उद्देश्य पारमार्थिक है तो आपको भगवान्‌के साथ रहना चाहिए। जीना भगवान्‌के लिए और मरना भी भगवान्‌के लिए। प्राण भगवान्‌में मिला दो। वह उन्हें आज ले ले तो कोई उलाहना न दो। मनुष्यको हर क्षण ईश्वरके संकेतकी प्रतीक्षा करनी चाहिए।

जब चित्त और प्राण भगवान्‌को अर्पित कर दिये, उनमें लगा दिये तो फिर समय कैसे बिताया जाय? तो कहते हैं :

बोधयन्तः परस्परम् : जितनी देरतक ध्यान हो, भगवान्‌का ध्यान किया जाय। ध्यान न हो तो जप करो। जप न हो तो पाठ करो, पूजा करो। दूसरेसे मिलो तो भगवान्‌की चर्चा सुनो और कहो। जो भगवान्‌के मार्गमें चलते हों, उन्हींसे बातें करो।

परस्परं बोधयन्तः—परस्पर समान शीलवालोंको रोज-रोज समझाओ।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेव परत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

अर्थात् उसीका चिन्तन, उसीका कथन, परस्पर उसीको समझाना इस प्रकार उस परमतत्त्वमें लगे रहना, इसीको बुद्धिमान् 'ब्रह्माभ्यास' कहते हैं।

एक मनुष्य माला फेरता है, पर कहता है : 'कब भगवान्‌का दर्शन हो और कब यह माला छूटे। यह तो गले पड़ गयी।' क्या उसे कभी ईश्वरका दर्शन मिलेगा ? नहीं।

एक कहता है : 'ईश्वर मिले या न मिले, हम तो माला फेरनेका अभ्यास कर रहे हैं कि जीवनमें नाम-जपका स्वभाव बन जाय। हर समय मुखसे नाम निकले।'

आध्यात्मिक साधना फलप्राप्तिके लिए नहीं, साधनमय जीवन बनानेके लिए होती है। लेकिन जब भक्त एकत्र होते हैं,

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निर्वृत्तिर्मिथ आत्मनः॥

परस्पर भगवान्‌के पवित्र यशका वर्णन करते हैं, जिससे परस्पर प्रीति, सन्तुष्टि और आनन्द प्राप्त करते हैं।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रदुत्पुलकां तनुम्॥

परस्पर निखिल पापहारी श्री हरिका स्मरण करते-कराते हैं और इस साधन-भक्तिसे प्रेमा-भक्ति उत्पन्न होनेके कारण उनका शरीर रोमांचोंसे सुशोभित हो जाता है।

पर-चर्चा मत करो। किसीकी बुराई करोगे तो उससे द्वेष होगा। किसीकी प्रशंसा करोगे तो उससे राग होगा। संसारमें राग-द्वेष हो तो संसार ही पकड़में आता है, ईश्वर नहीं। अतः अपने हृदयको पवित्र करनेवाले भगवान्‌के यशका ही वर्णन करना चाहिए।

भक्त परस्पर प्रेम, परस्पर संतोष, परस्पर निवृत्त होनेकी प्रेरणा लेते हैं: 'ये इतना भजन करते हैं, इतना कम संग्रह रखते हैं तो हम भी ऐसा ही करेंगे।'

एक दूसरेके हृदयमें ईश्वरको बैठाओ; चोर, डाकू, बदमाशको नहीं। संसारकी बुराई, कड़वाहट किसीके हृदयमें मत डालो।

कथयन्तश्च मां नित्यम्: कोई बात करनेवाला न मिले, श्रोता ही मिले तो सुनाओ। ऐसे न सुना सको तो रामायण, गीता, भागवत पढ़कर सुनाओ।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायाम्।

हमारी वाणी भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करे, हमारे कान भगवत्कथा-का श्रवण करें। संसारकी चर्चा राग-द्वेष उत्पन्न करके संसारसे बांधती है, भगवत्कथा संसारका राग-द्वेष छुड़ाकर भगवान्‌से बाँधती है।

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄन् तत्पादसलिलं यथा॥

जैसे भगवान्‌के चरणोंसे निकली गंगाजी तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं, वैसे ही भगवत्कथासम्बन्धी प्रश्न उसे पूछने, कहने और सुननेवाले तीनों पुरुषोंको पवित्र करता है।

श्री-श्री आनन्दमयी मां कहती हैं :

हरिकथा कथा आर सब वृथा व्यथा।

भगवान्‌की कथा ही कथा है और सब चर्चाएँ व्यर्थ एवं व्यथा देनेवाली हैं !

रसना साँपिनि बदन बिल जो न जपै हरिनाम।

यदि भगवान्‌का नाम न लिया जाता हो तो मुखरूपी बिलमें रहनेवाली जीभ विषैली सर्पिणी है। वह किसी-न-किसीको डँसेगी। किसी-न-किसीको दुःख पहुँचायेगी।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

और तो और ! निष्प्रयोजन, आत्माराम, आप्तकाम, हृदयग्रन्थि-रहित मुनिगण भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं, भगवान्‌के ऐसे ही गुण हैं।

भगवत्कथा तत्त्वदार्थके शोधनमें सबसे बड़ी सहायक है। अतएव भगवान्‌के रूप, गुण और चरितका वर्णन करना चाहिए :

बिनु देखे रघुबीर-पद, जियकी जरनि न जाय।

अतः 'कथयन्तश्च मां नित्यम्'—भगवान्‌की ही चर्चा करो। कभी-कभी नहीं, नित्य करो। केवल संक्रान्ति, पूर्णिमाको ही कथा सुन लेना पर्याप्त नहीं। जैसे पचास-सौ रुपये प्रतिदिन कमाते हैं और कभी पाँच-दस पैसे गरीबको भी फेंक देते हैं, वैसे महीने-पन्द्रह दिनमें घंटे, आध-घंटेका समय कथामें डाल दिया तो उससे जीवन नहीं बनता।

संत उसे कहते हैं जो मनुष्यको मनोवृत्ति परमात्मामें ले जाय। स्वयं सत्‌से एक होकर बैठे हैं और दूसरोंको भी सत्‌से एक कर रहा हो। जो वृत्तिको असत्‌में ले जाय, वह संत कैसा ?

कथयन्तश्च : यदि कोई न हो तो स्वयं भगवान्‌के नाम-गुणको गुनगुनाते रहो।

तुष्यन्ति च रमन्ति च : अपना संतोष और अपना रमण भगवान्‌में लगाओ।

नित्यं मच्चित्ताः, नित्यं मद्‌गतप्राणाः, नित्यं परस्परं बोधयन्तः, नित्यं मां कथयन्तः नित्यं तुष्यन्ति, नित्यं रमन्ते च —इस प्रकार 'नित्यम्'का अन्वय सबके साथ है।

जब तुम्हें अमृतका झरना मिल गया तो फिर अन्यत्र जानेकी आवश्यकता ही क्या है ?

आज मनुष्य धर्मपर, सत्यपर ईश्वरपर विश्वास नहीं करता। विश्वास करता है झूठपर, अधर्मपर, अपनी चालाकीपर। यह मनुष्यका कितना पतन है !

अरे, संतोष तब मानो जब भगवान्‌की चर्चा सुननेको मिले। आनन्द तब आये जब भगवच्चरित्र सुननेको मिले। एक लोभीको धनकी प्राप्तिसे जैसा सन्तोष होता है, एक भोगीको भोग मिलनेसे जैसा आनन्द आता है, वैसा ही भक्तको भगवच्चर्चासे संतोष एवं आनन्द आता है। हम खेल खेलते हैं और सन्तुष्ट होते हैं। पर इसमें खेलें तो ईश्वरसे खेलें और तुष्ट हों तो ईश्वरसे।

'हमारे पास इतना धन है कि जीवन तो कट ही जायगा, चिन्ता क्या है ?'—यह संतोष आया पैसेसे।

'हमारे आठ पुत्र हैं। कोई न कोई तो ऐसा निकलेगा जो बुढ़ापेमें सेवा कर देगा। चिन्ताकी क्या जरूरत है।'—यह पुत्रका संतोष है।

'मेरे इतने मकान हैं, इतना किराया आता है। यह सारा आश्रय झूठा है। यह टिकाऊ नहीं है। मैंने पचीस वर्षके भीतर करोड़पतिको भीख माँगते और भिखारीको करोड़पति होते देखा है। जिनके घर दस व्यक्ति थे, उनके घर कोई पानी देनेवाला भी नहीं रहा। संसारका सारा भरोसा झूठा है।

संतोष इस प्रकार हो कि 'ईश्वर मेरा है और मैं ईश्वरका हूँ।' तुम भरोसा किसका करते हो? रातको सोते हो मकान, चौकीदारके भरोसे। किन्तु जब व्यक्ति नींदमें चला गया तो जागे, न जागे। न जागे तो मकान चौकीदार या रुपया तुम्हें जगा सकेगा? जो हृदयमें बैठा है, वही जगाये तो जगाये, न जगाये तो न जगाये। अतः यदि अन्तर्यामी ईश्वरपर भरोसा है तो वही सच्चा भरोसा है, नहीं तो भरोसा कच्चा!

भक्तको भगवान् देते हैं :

११. बुद्धि-योग

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—१०.१०

भगवान् कहते हैं कि 'उन निरन्तर लगे हुए, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।'

तेषां सततयुक्तानाम् : जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें अपनेको ईश्वरके साथ जोड़ लो, तो सतत जुड़े रहोगे। ऐसे जो लोग हैं, जिनका ज्ञान और वाणी भी ईश्वरमें लगी हैं, वे सदा जुड़े रहनेवाले लोग प्रेमपूर्वक भजन करते हैं।

एक सज्जन बहुत भजन करते थे। खूब माला फेरते थे। कभी हँसते ही रहे तो कभी रोते-रोते झर-झर आँसू बहाते। मैंने पूछा : 'तुम्हें भजनके समय मजा आता है?

वे : 'आता तो है।'

'गुड़ खाते समय जीभको जितना स्वाद आता है, उतना ही स्वाद भगवन्नाम लेनेमें आता है?'

'सोचकर बतलाऊँगा।'—कहकर उन्होंने गुड़ खाया और तब बोले : 'गुड़ खाते समय मजा तो अधिक आता है; किन्तु उसमें कुछ मलिनता लगती है। पर भजनके समय जो मजा आता है, उसमें निर्मलता ही निर्मलता लगती है।'

विषय एवं इन्द्रियोंका संयोग न होनेसे भजनका वह आनन्द विशुद्ध है। संसारमें भोजनके बाद मुँह धोना पड़ता है। यदि भोजनमें गन्दगी न होती तो मुँह क्यों धोना पड़ता? अतः संसारके भोगोंमें मलिनता और ईश्वरके आनन्दमें निर्मलता है।

अपनी प्रीति ईश्वरसे जोड़ो। प्रीति यानी पवित्र होनेकी रीति!

तेषां सततयुक्तानाम् : समाधान-दशामें सदा रहा नहीं जा सकता। चौबीस घण्टे समाधि नहीं लगी रह सकती। यहाँ 'युक्त' शब्दका यह अर्थ भी नहीं। यदि चाहो कि तदाकार वृत्ति बनाकर निरन्तर तद्वत् रहें, तो यह अशक्यानुष्ठान है।

रोज-रोज भगवान्‌में घण्टे-दो घण्टे लगें, यह अर्थ भी सतत-युक्तानाम् का ठीक नहीं है।

सततयुक्तानाम् का अर्थ है : सततं योगमाशंसमानानाम्। अर्थात् निरन्तर जुड़े रहनेकी इच्छा, आशा करनेवालोंको। ऐसी लालसा मनमें बनी रहे कि 'वह समय कब आयेगा, जब हम निरन्तर भगवान्‌से जुड़े रहेंगे।' मार्गमें बाधा आयी, तो भी डिगेंगे नहीं।

हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरिनाम।

एक सज्जन रामेश्वर-दर्शन करने चले। माता मदुराई स्टेशन पहुँचे तो तूफान आया। रेल-लाईन और सड़क बह गयीं। हल्ला

मचा—'रामेश्वर द्वीप नष्ट हो गया।' पर वे लौटे नहीं, रुके रहे। एक दिन बाद पता चला—'हानि धनुष्कोटिमें हुई है, रामेश्वर-मन्दिर ठीक है।' उन्होंने सोचा—'ठीक है तो मार्ग भी खुलेगा। वहाँ सहायता देनेवाले भी तो जायँगे। पाँच-सात दिन रुके रहे। मार्ग बनने लगा। वे पैदल गये और दर्शन करके ही लौटे।

तेषां सततयुक्तानाम् : कमल खिलता है तब यह नहीं सोचता कि हमारी शोभा देखकर कोई प्रसन्न होता है या नहीं। चाँदनी छिटकाते समय चन्द्रमा नहीं देखता कि वह किसपर पड़ेगी। इसी तरह हृदयमें प्रेम उमड़ता है तो मनुष्यको देख-देखकर नहीं उमड़ता। ईश्वरके प्रति प्रेमका अर्थ ही है सबके प्रति प्रेम। चैतन्य महाप्रभुमें प्रेम उमड़ता था तो वे वृक्षसे लिपट जाया करते थे।

भजतां प्रीतिपूर्वकम् : प्रेमपूर्वक भगवान्‌से जुड़े रहना।

भजतां प्रीतिपूर्वकम् यहाँ 'प्रीतिपूर्वकम्' देहली दीपक है। अर्थात् 'प्रीतिपूर्वकं भजताम्' और 'प्रीतिपूर्वकं बुद्धियोगं ददामि' ऐसा अन्वय करना चाहिए।

बहुत-से लोग लाभ या प्रशंसाके लिए भजन करते हैं। अपने मनके अनुसार चलानेके लिए भी लोग सेवा करते हैं। स्वयं उसके मनके अनुसार चलनेके लिए सेवा नहीं करते। लेकिन प्रीतिपूर्वकं भजताम् का अर्थ है—लाभ, यश-सम्मान या अपने प्रभुत्वके लिए नहीं, केवल ईश्वरको प्रसन्नताके लिए भजन करते हैं। संसार या अपने लिए नहीं, ईश्वरके लिए भजन करो।

एक महात्मासे किसीने पूछा : ईश्वर मुझपर प्रसन्न है, यह कैसे समझूँ ?'

महात्मा : "तुम्हें अपनेपर अपने कर्म, अपने भोग, अपनी रहनी, अपनी इन्द्रियों, अपने मन और अपनी बुद्धिपर सन्तोष है या नहीं ? यदि पूरा सन्तोष है कि 'हमारा जीवन, हमारा कर्म, हमारा मन ठीक है' तो ईश्वर तुमपर प्रसन्न है।"

वह : 'मेरी दृष्टिमें तो मुझमें बहुत-सी त्रुटियाँ हैं।'

महात्मा : 'जो त्रुटियाँ तुम्हारी दृष्टिमें हैं, वे ईश्वरकी दृष्टिमें भी हैं। ईश्वरने तुम्हारे विषयमें अलगसे कोई दृष्टिकोण नहीं बनाया है। स्वयं व्यक्ति अपने विषयमें जैसा सोचता है, ईश्वर उसीको स्वीकृति देता है।'

कुछ लोग बेगारमें, किसी प्रकार बेमनसे सेवा करते हैं। पर ऐसा नहीं, ईश्वरकी सेवा प्रीतिपूर्वक करनी चाहिए। हमसे ईश्वरकी सेवा-भजन बनता है, यह हमारा अहोभाग्य है' ऐसा भाव रखकर जो भजन होता है, वही प्रीतिपूर्वक भजन है।

ददामि बुद्धियोगम् : बुद्धि तो भगवान् सबको देते हैं। कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक जिसे भी बुद्धि मिली है, वह सारी बुद्धि भगवान्-रूप उपादानमें, भगवान्रूप निमित्तसे जीवके संस्कारके अनुसार मिली है। लेकिन मात्र बुद्धिको योग नहीं कहते। जज, बैरिस्टर, राजनीतिज्ञ, प्रोफेसर आदिके पास बुद्धि होती है, पर वह 'बुद्धि-योग' नहीं, जैसे कि एक भंगी सड़कपर झाड़ू लगाये तो वह 'कर्म-योग' नहीं होता।

शबरी भी मार्गमें झाड़ू लगाती थी, पर वह 'कर्म-योग' था; क्योंकि वह ईश्वरके लिए था। जब ईश्वरके लिए कर्म होता है, तभी उसका नाम 'कर्म-योग' होता है।

माताकी भक्ति, पिताकी भक्ति, देशकी भक्ति भक्ति है; किन्तु वह 'भक्ति-योग' नहीं। जब ईश्वरके लिए भक्ति होगी, तभी उसका नाम 'भक्ति-योग' होगा।

ऐसे ही बुद्धि सबमें होती है, लेकिन जब वह ईश्वरमें लगे, तभी बुद्धि-योग' होगा। वैसे नास्तिकके पास जो बुद्धि है, वह भी भगवान्की दी हुई है। भागवतमें आया है :

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।

दो व्यक्ति शास्त्रार्थ करने बैठे। एककी बुद्धि स्फुरित होती है : 'ईश्वर नहीं है।' दूसरेकी स्फुरित होती है : 'ईश्वर है।' दोनोंके चित्तमें बैठा ईश्वर ही दोनोंको बुद्धि दे रहा है। लेकिन भक्त यह देखता है तो उसे दोनोंकी बातें सुननेमें मजा आता है; क्योंकि बातें दोनोंकी नहीं, बतलानेवालेकी होती हैं।

भगवान्में बुद्धिका लगाना बहुत सरल है। आपकी आत्मा जिसे ईश्वर स्वीकार करती हो, उसमें बुद्धिको लगाइये। हर काममें ईश्वरका हाथ देखिये।

'ददामि बुद्धियोगम्' : भगवान् कहते हैं कि 'तुम हमारी प्रीतिपूर्वक सेवा करते हो तो हम भी तुम्हें प्रीतिपूर्वक बुद्धियोग देते हैं।'

भगवान्का ऐश्वर्य निरंकुश है। उसपर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता। वे सौशील्य, वात्सल्य आदि कल्याणगुण-गणोंके आकर हैं। एक छोटे बच्चेको आपने पानीसे भिगोया तो वह रोया, साबुन लगाया तो और रोया। फिर नहलाया, तौलियेसे पोंछा, तो वह रोता गया। आपने उसे समझाया—'ऐसे नहलानेसे

शरीर स्वच्छ हो जाता हैं।' धीरे-धीरे बच्चेकी समझमें बात आ गयी तो वह स्वयं नहाने लगा, साबुन लगाने लगा। इसी प्रकार संसारका जो संचालक है, पिता है, वह भी अपने बच्चोंको बुद्धियोग देता है।

संसारमें मृत्यु, अकाल, महामारी आती है, इसमें भी भगवान्‌की प्रीति है। दुःख आता है, तो वह शोधनकी ही प्रक्रिया है। ऐसी कोई अवस्था जीवकी नहीं, जहाँ भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌का प्रेम शोधनकी रासायनिक प्रक्रिया न कर रहा हो। कोई गाली देता है और हमें दुःख होता है, तो समझ लें कि दुःख तो हमारे भीतर बैठा था। हम उसे पहचानते नहीं थे। गालीसे वह उभड़ आया। हम समझते थे कि हममें अभिमान नहीं है; पर किसीने तिरस्कार किया तो वह उभड़ आता है।

भगवान् जिसे अपना समझते हैं, उसे बुद्धियोग देते हैं। तब वह समझता है कि ये कष्ट, ये अपमान आदि देकर भगवान् मुझे शुद्ध कर रहे हैं, अपनी ओर खींच रहते हैं। जिसे बुद्धियोग नहीं मिलता, वह, दुःखमें बहुत दुःखी होता और भगवान्‌को दोष देता है।

भगवान्‌ने गोपियोंसे कहा: 'मैं स्थूलरूपसे तुम्हें जो वियोग दे रहा हूँ, वह अन्तःकरणमें समीप रहनेके लिए है। स्थूलशरीरसे तो मैं जब जहाँ चाहूँगा, तुमसे मिलूँगा। लेकिन तुम्हें ध्यान दे रहा हूँ, जिससे तुम जब जहाँ चाहो, मुझसे मिल सकोगी।'

सबके उपादान और सञ्चालकके रूपमें ईश्वरको समझनेकी शक्तिको बुद्धि-योग कहते हैं। जब यह प्राप्त होगा तब प्रत्येक स्थानपर और प्रत्येक रूपमें तुम भगवान्‌को देख सकोगे। तब सच्चे सततयुक्त बन जाओगे।

ईश्वरकी बड़ी कृपा होती है, तब मनुष्यके मनमें ईश्वरकी ओर चलनेकी इच्छा जगती है। नहीं तो वह धन, भोग और यशकी ओर चलता है। अन्तर्मुख होना और लोकरुचिके विपरीत चलना स्वयं नहीं होता। नदीके प्रवाहमें तैरनेवाले अधिकांश धाराके साथ तैरते हैं। धाराके विपरीत तैर सकें, ऐसे बहादुर कोई-कोई ही होते हैं।

हमारे भीतर ज्ञानका एक उद्‌गम है। वहाँसे ज्ञानको धारा बहकर नेत्र, कान, त्वचा, रसना और नासिकामें आती है। इसीको वेदमें पञ्चनद्यः सरस्वती कहा है। ये धाराएँ भीतरसे निकलती हैं और बाहरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप विषयोंमें जाकर लीन हो जाती हैं। जीवात्मा इन्हीं नदियोंके वेगमें पड़कर इनके साथ बाहर जाता है। इस ज्ञानकी सरस्वतीके उद्‌गमको कोई-कोई ही ढूँढ़ता है।

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात् 'संसारमें कोई ही धीर पुरुष होते हैं जो इन नेत्र, कर्णादि इन्द्रियोंको बाहर जानेसे रोककर प्रत्यागात्माके पास पहुँचते हैं। अमृतत्वकी इच्छासे प्रवाहसे उलटे तैरकर जानेवाले बहादुर कोई-कोई ही होते हैं।

अपना ध्यान इस ओर लगाओ कि हम जो बोलते हैं, वह शब्द कहाँसे आता है? यह शब्द जहाँसे निकलता है, जहाँसे नेत्रमें प्रकाश आता है, वहाँ ज्ञानका खजाना परमेश्वर बैठा है। जब हम ध्यान करके, विवेक करके, प्रेम करके, उसकी चर्चा करके, उसीका संकीर्तन करके, उसीमें सन्तुष्ट होकर, उसीमें

रमकर, प्रेमपूर्वक उसका भजन करते हैं, तब वह अपनी ओर जानेको हमें बुद्धि देता है।

जन्म-जन्मके पुण्योंका फल है, अन्तर्मुखताकी प्राप्ति। संसारमें जो कुछ मिलता है, वह नष्ट हो जाता है। जो दीपक जलाया जाता है, वह बुझ जाता है।

यद् दृष्टं तन्नष्टम्, यत्कृत्यं तद्नित्यम्।

जो देखा गया, वह नष्ट होता है। जो बनाया जाता है, वह एक दिन बिगड़ जाता है। मात्र हृदयेश्वर ही सच्ची वस्तु है।

भगवान् ही प्रेम और बुद्धिका योग कराते हैं। प्रेम और बुद्धिका जब समरस योग होता है। तभी परमात्माका आनन्द प्रकट होता है। जब हम किसीसे प्रेम करते हैं, तो वह हमसे अपनेको कबतक छिपा सकता है? प्रेमके सामने दुराव नहीं टिकता। यदि कोई ईश्वरसे प्रेम करे, तो ईश्वर भी उसके सामने अपनेको छिपा नहीं सकता।

यदि हम किसी सत्पुरुषके सम्बन्धमें जानकारी पायें तो न चाहनेपर भी मनमें उससे प्रीति हो जायगी। सच्ची जानकारीमें प्रेम रहता है और सच्चे प्रेममें जानकारी रहती है। अतः

भक्तौ तु या पराकाष्ठा तद्धि ज्ञानं प्रकीर्तितम्।
ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सैव भक्तिः प्रकीर्तिता॥

भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, उसीको 'ज्ञान' कहा जाता है और ज्ञानकी जो चरम सीमा है, उसीको 'भक्ति' कहते है।

ईश्वरके प्रति किया गया प्रेम 'ज्ञानाय कल्पते'—ज्ञानके रूपमें बदल जाता है और ईश्वरका जाना स्वरूप बदल जाता है प्रेममें।

अतः जो भक्तिके मार्गपर चलते हैं, भगवान् उनके समक्ष अपनेको प्रकट कर ही देते हैं। प्रेममें संशय, द्विविधा या द्वैत नहीं होता। प्रेम आवरणको दूर करता है। श्री राधा कहती है :

> अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति न तदानीं मतिरभूत्,
> मनोवृत्तिर्लुप्ता त्वहमहमिति ··· नौ धीर्हता।
> भवान् भर्ता भार्याऽहमिति यदिदानीं व्यवसितिः,
> तथापि प्राणानां स्थितिरिति विचित्रं किमपरम् ॥

अर्थात् "हमारे और तुम्हारे बीच थोड़ी देर पूर्व ऐसा एकत्व था कि 'तुम प्यारे हो और मैं प्यारी हूँ' यह वृत्ति लुप्त हो गयी थी। 'यह तुम हो और यह मैं' यह भेदबुद्धि नष्ट हो गयी थी। अब मालूम पड़ता है कि 'तुम पति हो और मैं पत्नी हूँ, तुम प्रियतम हो और मैं प्रेयसी हूँ।' बुद्धिमें इतना भेद होनेपर भी कि मेरी श्वास तुमसे पृथक् है, मेरे प्राण शरीरसे निकलकर तुम्हारे प्राणोंमें मिल नहीं गये, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?" तात्पर्य यह कि एक होनेकी जो ज्ञानकी प्रकृति है, वही प्रेमकी भी प्रकृति है। प्रेम करनेवालेको समझ मिलती है, दूरी-देरी मिट जाती है।

येन मामुपयान्ति ते : उस मेरे दिये बुद्धियोगसे वे मेरे पास आते हैं।

> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥—१०.११

अर्थात् उन्हींपर कृपा करनेके लिए मैं उनके आत्मभावमें स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानदीपसे उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट करता हूँ।

तेषामेवानुकम्पार्थम् : जब कोई भक्त भगवान्‌की ओर चलता है तो भगवान् आश्रय-सौकर्यापादन करते हैं—अपनी ओर आनेमें उसे सुगमता कर देते हैं। आश्रित का कर्तव्य पूरी तरह निबाहते हैं।

भगवान् पहले भक्ति-योगीको बुद्धि-योग देते हैं। जब ईश्वर देखता है कि कोई मुझसे प्रेम करता है और अपनी बुद्धि लगाकर मेरे पास आ रहा है, तो उसमें अनुकम्पाका उदय होता है। जब वह प्रेमीके हृदयको उछलते, व्याकुल होते देखता है तो उसका हृदय भी काँपने लगता है। तब ईश्वर ज्ञानदीपके प्रकाशसे भक्तके अज्ञानजन्य तमको दूर करता है।

आत्मा तो अजर-अमर, ज्ञानस्वरूप है। वह न कभी पैदा हुआ और न कभी मरता है :

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

आत्मदेव अजर-अमर, अविनाशी, अखण्ड, परिपूर्ण हैं। फिर भी वृत्तिरूप ज्ञान उदित होता और नष्ट होता है। इस वृत्तिज्ञान और अज्ञानके बलाबलका विचार करो। अज्ञानको अपने विषयका बल नहीं होता। जिसके बारेमें अज्ञान होता है, उससे अज्ञानको कोई सहायता नहीं मिलती। अज्ञानको केवल आश्रयका बल है। जिसे अज्ञान है, वह अपने अज्ञानको पकड़कर बैठा है—'अहमज्ञः' कहकर; लेकिन ज्ञानको तो आश्रय और विषय दोनोंका बल मिलता है। ज्ञानवृत्तिकी एक ओर ज्ञाता आत्मा तो दूसरी ओर ज्ञेय ब्रह्म है। ज्ञेय यथार्थ वस्तु भी वृत्तिको बल दे रही है : 'देखो, मेरा यथार्थ रूप यह है' और आश्रय भी बल देता है, प्रत्यक् चैतन्य कहता है : 'मैं अजर-अमर, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप

हूँ।' वह भी बल देता है। तब मध्यसे वृत्ति हट जाती है कि 'लो मैं हट गयी, तुम दोनों तो एक ही हो।'

तेषामेवानुकम्पार्थम् : यहाँ भगवान् भक्तपर जो कृपा करते हैं, वह स्वयं बतला रहे हैं। नियम तो यह है कि अपना किया उपकार उपकृतको न बतलाया जाय। प्रेमीपर भार न डाला जाय कि हम तुमसे ऐसा प्रेम करते हैं, तुमपर ऐसी कृपा करते हैं। किन्तु बात यह है कि भगवान्‌की कृपा संसारी जीवों तथा भक्तोंको जल्दी समझमें नहीं आती और जबतक वह समझमें नहीं आती, तबतक उनका कल्याण नहीं होता। अतः यह बतलाना भी भगवान्‌की कृपा ही है।

ददामि बुद्धियोगंतम् : यह एक कृपा है और इसे बतलाना दुहरी कृपा है; क्योंकि जो कृपाको, प्रेमको नहीं समझता, उसपर की गयी कृपा भी फलप्रद नहीं होती। उसके हृदयकी कठोरता दूर नहीं हो पाती।

तेषामेवानुकम्पार्थम् : उन्हींपर कृपा करनेके लिए। 'तेषामेव' यहाँ कृपाके दो भाव हैं :

१. भगवान् देखते हैं कि 'ये भक्त मेरेलिए ही नाचते-गाते हैं, मुझमें ही अपना मन, अपनी बुद्धि लगाते हैं। इन्हें प्रयत्न करके कर्तृत्वपूर्वक लगे रहना पड़ता है। अतः ऐसी कृपा इनपर करें कि मुझमें मन लगानेमें यत्न न करना पड़े। कोई श्रम न करना पड़े और मैं मिला रहूँ।' इस तरह साधनके परिश्रमसे मुक्त करनेके लिए—साध्य-साधनभावकी निवृत्तिके लिए वे अपने अप्राप्तपनेका भ्रम ही काट देते हैं।

२. अपने पास उत्तम सम्पत्ति हो, कोई अपनेसे प्रेम करे, हम उसे वह सम्पत्ति देना चाहें और वह कहे : 'नहीं लेंगे' तो क्या उसके 'ना' करनेसे ही हम नहीं देंगे ? लेनेवालेको आवश्यकता होनेपर ही देना हो तो किसी कंगाल-भिखारीको देना चाहिए। प्रेमसे देना है तो 'ना' करनेपर भी देना चाहिए। भक्त कहता है : 'हम मोक्ष नहीं लेंगे।' भक्तको मोक्षमें बहुत-से दोष दीखते हैं। वह उसे पेन्शन लेने जैसा लगता है। वह सेवा छोड़ना नहीं चाहता।

मुझे एक राजा साहब मिले—श्री राधिकारमणप्रसाद सिंह जी, बिहारके। उन्होंने बतलाया : 'मेरे पिताजीका एक सेवक था। जब वह अन्धा हो गया तब मैंने कहा : 'घर जाकर रहो। तुम्हारे खाने-पीनेका हम प्रबन्ध कर देते हैं।'

वह बोला : 'बाबू! तुम्हें मैंने अपनी गोदमें खिलाया है। तुम्हारा विवाह अपनी आँखों देखा है। अब मैं बुड्ढा और अन्धा हो गया, तुम्हारी सेवा नहीं कर पाता तो तुम्हें छोड़कर घर चला जाऊँ, यह दिल नहीं मानता। तुम्हारी बोली सुने बिना मुझसे नहीं रहा जाता। कोई ऐसी सेवा दे दो कि तुम्हारे दरवाजेपर ही मरूँ।'

उसे पंखा खींचनेकी सेवा दे दी। थोड़े दिन पीछे गाँवमें बिजली आ गयी। पंखा खींचनेकी सेवा छूट गयी। फिर उसे गाँव जानेके लिए राजा साहबने कहा तो बोला : 'यह बिजलीके पंखेकी हवा कैसी होती है, मुझे पता नहीं। लेकिन तुम्हारे लिए पंखा मैं ही खींचूंगा।' वह पंखा खींचता रहा और वहीं मरा।

भक्त कहता है :

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं ''न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा''।

'मुझे न स्वर्ग चाहिए, न ब्रह्माका पद। न योगकी सिद्धियाँ चाहिए और न मोक्ष। हम तो तुमको ही चाहते हैं।'

ऐसे भक्त कहते हैं : 'जो आनन्द तुम्हारे चरणका ध्यान करनेमें है, वह मोक्षमें भी नहीं आता' :

> या निर्वृतिस्तनुभृतां तवपादपद्म-
> ध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणे न वा स्यात्।
> सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्…

भक्त तो मना कर देते हैं : 'हमें मोक्ष नहीं चाहिए', पर भक्तकी यह निष्काम प्रीति देखकर भगवान्में उतनी ही कृपा उमड़ती है। भगवान् ज्ञानदीपक जला देते हैं।

दीपक जलनेसे घरमें कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं होती। जो वस्तु पहलेसे होती है, वही दीखती है। ज्ञानका दीपक जलते ही पता चलता है कि 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ।' यह केवल-अज्ञान और अज्ञानके कार्य मिथ्याप्रत्ययकी निवृत्ति हुई। कोई नयी बात उत्पन्न नहीं हुई। अज्ञान होनेसे जो वस्तु नहीं मिलती, वह खोयी नहीं रहती। वह रहती है घरमें ही, मालूम पड़नेपर मिल जाती है। इसी तरह ज्ञानसे मोक्ष मिलनेका अभिःप्राय है कि मोक्ष तो पहलेसे ही है, न जाननेके कारण तुम्हें लगता था कि वह प्राप्त नहीं है।

केवल अपने आपको न जाननेके कारण हम अपनेको दीन, दुःखी, अज्ञानी, जन्मने-मरनेवाला समझते थे; पर वास्तवमें थे अजर-अमर, सच्चिदानन्दघन। ज्ञान दीपक जला देनेका अर्थ है, हमारी भूल मिटा देना। यह काम गुरुका होता है।

न खुदा न बन्दा था, मुझे मालूम न था।
दोनों इल्लतसे जुदा था, मुझे मालूम न था॥

एक राजाके घर बच्चा हुआ। डाकू शैशवमें ही उसका अपहरण कर ले गये और उसे पाल-पोसकर बड़ा किया। वह समझता था : 'मैं डाकू हूँ।' एक महात्माने देखा : 'इसमें तो राजाके लक्षण हैं।' याद आया—इसकी जितनी आयु है, उतने वर्ष पूर्व राजाका पुत्र खो गया था। यह वही तो नहीं है? पता लगाया। उस राजपुत्रके शरीरपर जो चिह्न थे, सब इसमें मिल गये। तब उसे समझाया : 'तुम तो राजकुमार हो। अपनेको डाकू क्यों समझते हो?' इससे वह समझ गया।

यह जो जीवपनेका अभिमान है—'मैं परिच्छिन्न, पापी-पुण्यात्मा, स्वर्ग-नरक जानेवाला, जन्मने-मरनेवालाला, सुखी-दुःखी हूँ,' वह अपने स्वरूपको न जाननेसे मिथ्या-प्रतीति है। भगवान् ज्ञानका तीव्रतम प्रकाशवाला दीपक जलाकर इस अज्ञानान्धकारको दूर कर देते हैं।

सम्पूर्ण तमका उपादानकारण है अज्ञान। संसारमें जितना 'मेरा-तेरा' दुःख दौर्भाग्य है, उसका मूल कारण अज्ञान ही है। इन झूठी मान्यताओंका कारण है अपने स्वरूपको न जानना—अपने आपको ब्रह्म न जाननारूप अज्ञान। उसीको भगवान् दूर कर देते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थम् : भगवान्ने कहा कि 'जिसके अज्ञान-जन्य तमको दूर करना होता है, उसके आत्मभावमें स्थित हो जाता हूँ और फिर भास्वान् ज्ञानदीपकसे उसके अज्ञानान्धकारको दूर करता हूँ।'

तात्पर्य यह कि भगवान्‌को भी जब किसीका अज्ञान मिटाना होता है तो एक प्रक्रियासे ही मिटाते हैं। वे आत्मभावमें बैठकर अन्धकार मिटाते हैं। श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य दोनोंने 'आत्मभावस्थः' का लगभग एक ही अर्थ किया है।

श्री शंकराचार्य : आत्मभावस्थः आत्मनो भावः अन्तः-करणाशयः, तस्मिन्नेवास्थितः—'आत्मभाव अर्थात् अन्तः-करणाशय, उसीमें स्थित होकर।'

श्री रामानुजाचार्य : मनोवृत्तौ विषयतया अवस्थितः—'मनोवृत्तिमें विषयरूपसे स्थित होकर मैं अज्ञान-तमको दूर करता हूँ।'

पहले ईश्वरको बैठाने-योग्य अन्तःकरण होना चाहिए। जब कोई सम्मानित अतिथि आनेवाला होता है तो घर स्वच्छ किया जाता है। हृदयमें भगवान् आकर क्रीड़ा करनेवाले हैं, तो हृदय भी स्वच्छ होना चाहिए। हृदयका स्वच्छ होना क्या है? उसमें एकान्त हो, दूसरा कोई न हो। जड़ वस्तुएँ, संसारके विषय हृदयसे निकाल दो। वह कूड़ा-कर्कट है। यदि सम्पूर्ण जड़ताको पृथक् कर दिया जाय तो जड़के साथ लगे देश-काल स्वयं हट जायँगे। जितने परिवर्तन-परिणाम हैं, सभी जड़में होते हैं और जितने परिमाण (नाप-तौल) हैं, वे भी जड़में ही होते हैं। अब अन्तःकरण विषय, देश और कालकी कल्पनाओंसे खाली हो जायगा; क्योंकि अन्तःकरणमें वह आ रहा है, जिसकी आयुका कोई माप नहीं और लम्बाई-चौड़ाईकी कोई सीमा नहीं। तुम्हारे हृदयमें सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका अभिन्न-निमित्तोपादन कारण आ रहा है, ऐसा विशाल हृदय बनाओ। ईश्वरने अपनी ब्रह्मा-

कारताके प्रकाशसे देदीप्यमान ज्ञानदीप प्रज्वलित कर दिया तो उससे अज्ञानजन्य तम नष्ट हो गया।

वृत्तिने ईश्वरको अपने भीतर लिया और वृत्ति है तुममें। वृत्तिमें आया चैतन्य और वृत्तिसे परे रहनेवाला चैतन्य, दोनों ही एक हैं। एक ही परमात्मा वृत्तिके कारण दो रूप प्रतीत होता था। भगवान्‌ने उस तमको दूर कर दिया। जैसे कोई किसीको डाकूका पुत्र होनेके कारण मार रहा हो और वह डाकू ही मिल जाय तो क्या डाकूको छोड़ देगा? चित्तमें जो तमस् है, वह अज्ञानका पुत्र आवरण, भ्रान्ति या अध्यास है। एक मोहनको मोहन न पहचानना अज्ञान है और उसे सोहन समझना भ्रान्ति है। ऐसे ही अपनेको ब्रह्म न जानना अज्ञान है और अपनेको जीव मान बैठना भ्रान्ति है। भगवान् हमारे हृदयमें आकर ज्ञानके प्रकाशसे उपादान अज्ञानसहित भ्रान्तिको मिटा देते हैं।

'तमः'—तमका अर्थ है अन्धकार। 'हमसे यह भूल हुई, हममें यह त्रुटि है, यह त्रुटि है' इस प्रकार मनुष्य अपनी कमी ही जब देखने लगता है और अपने भीतर विद्यमान सच्चिदानन्द ईश्वरको नहीं देख पाता, तो उसीका नाम है तमस् या अन्धकार।

यह तमस् 'अज्ञानजम्'—परमात्माको न पहचाननेसे है। यह प्रकाशमय ज्ञानदीपसे दूर होगा। उस ज्ञानका स्वरूप है विवेक-प्रत्यय। आत्मा-अनात्मा, सत-असत् और प्रिय-अप्रियका विवेक कर 'सुखस्वरूप, चित्स्वरूप, सत्स्वरूप आत्मा है और अन्य दुःख-स्वरूप, अचित्स्वरूप, असत्स्वरूप है' यह विवेक-प्रत्यय ही उस ज्ञानदीपका स्वरूप है। भगवान्‌के प्रति भक्ति ही उसमें तेल है। निरन्तर भगवच्चिन्तन रहे, इस भावनाका अभिनिवेशरूप वायु उसे जलाता है। उसमें ब्रह्मचर्यादिरूप साधन-सम्पत्तियुक्त प्रज्ञा

बत्ती है। विरक्त अन्तःकरण ही उसका आधार-दीप है। वह विषय-वासनासे बुझे नहीं; ऐसा निर्विषय अन्तःकरण कमरा है। नित्य पवित्र ऐकाग्र्य-ध्यानजनित सम्यग्दर्शन उसकी ज्योति है। ऐसा ज्ञानदीप लेकर भगवान् आते हैं।

फिर, दाहिने-बायें भगवान् नहीं रहते। दाहिन-बायें पति-पत्नी रहते हैं। आमने-सामने भी नहीं रहते। आमने-सामने माता-पुत्र रहते हैं। भगवान् तो उससे अभिन्न हो जाते हैं। वे कहते हैं: 'तुमसे अलग मैं नहीं, मुझसे अलग तुम नहीं।'

आत्मभावस्थः—ईश्वरके संकल्पमें तो समस्त सृष्टि है, पर इससे किसीका कल्याण नहीं होता। कल्याण तब होता है, जब जैसे ईश्वर अपनेमें हमें देखता है, वैसे ही हम अपनेमें ईश्वरको देखने लग जायँ—हमारे संकल्पमें जब ईश्वर दीखने लगे।

वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, त्रिलोकीनाथ, मायोपाधिक परमात्मा, जिसके कल्पित संकल्पके एक अंशमें समूची सृष्टि है, जब हमारे संकल्पमें आता है तब वह आत्मभावस्थ होकर हमारे अज्ञानको नष्ट करता है।

'आत्मभावस्थ'का अर्थ है तदाकार, ब्रह्माकार वृत्ति। आभास-सहित वृत्तिमें जब ईश्वर चैतन्य बैठता है, तब वृत्ति एवं वृत्तिमान्‌की परिच्छिन्नताका पर्दा नष्ट हो जाता है। जैसे ईश्वर हमारी कल्पना करके तादात्म्यापन्न है, वैसे हम भी ईश्वरसे तादात्म्यापन्न होकर बैठें—समूची सृष्टि-कल्पनामें वह स्फुरित रहा है, इसे जानें।

ज्ञानदीपेन: 'विवेकप्रत्ययरूपेण'। विवेकका प्रत्यय ही दीपक है। 'भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन'—भक्तिप्रसादका उसमें तेल भरा

है। 'मद्भावनाभिनिवेशवातेरितेन'—भगवद्भावनाका अभिनिवेश वह वायु है जो इसे जलनेको चाहिए। वायु न हो तो दीपक बुझ जायगा। ब्रह्मचर्यादि-साधन-प्रज्ञा बत्ती है। विरक्त अन्तःकरण आधार है। विषयरहित, राग-द्वेषशून्य चित्त आँधी-तूफानका न होना है। ध्यानजनित सम्यग्-दर्शन उसका प्रकाश है। ऐसा ज्ञान-दीप भगवान् देते हैं। इस प्रकार भगवान् शंकराचार्यने ज्ञान-दीपका पूरा रूपक बतलाया है।

इस ज्ञानदीपके प्रकाशमें भगवान् स्वयं दिखलायी पड़ते हैं और कहते हैं : 'तुम्हारे पास जो प्रकाश है, वह अपनेसे स्थूलको, विषयोंको ही दिखा सकता है। उसमें मैं नहीं दीख सकता। अतः जिस प्रकाशसे मुझे देख सको, वह दीप तुम्हें दे रहा हूँ।'

उस भगवद्दत्त ज्ञानदीपका प्रकाश फैलते ही अज्ञान एवं अज्ञानका कार्य—अज्ञानज तमस् नष्ट हो जाता है। ○

१२. अर्जुन-कृत स्तुति

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
—१०.१२

अर्जुन श्रीकृष्णका स्तवन करता हुआ कहता है : 'प्रभो ! आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और विभु हैं।

परमब्रह्म परमात्मा कृपाकर ज्ञान दे देते हैं। ईश्वरकी कृपा ऐसी है कि भले ही हम उसे भूल जायँ, पर वह हमें नहीं भूलता। हम अपनेको ईश्वरसे दूर, परित्यक्त समझें; किन्तु ईश्वर न हमसे दूर होता, है न हमें त्यागता है। ईश्वरका अन्न ही हमारे शरीरका पोषण है। ईश्वरकी वायु ही हमारी श्वास बन रही है। ईश्वरकी ऊष्मा ही हमारे शरीरकी ऊष्मा है। ईश्वरके आकाशमें ही हम स्थित हैं। हमारा ईश्वरसे पार्थक्य कहाँ है ? हमारे शरीरका अवकाश, वायु, गर्मी, जल, अन्न सब बनकर परमात्मा ही तो बैठा है। सबमें वही परमात्मा है। 'सब' नहीं, परमात्मा ही परमात्मा है।

अर्जुन उवाच : पूछनेवाला अर्जुन है। अर्जुन वह है, जो ज्ञानार्जन करे।

ज्ञान सबसे अच्छा काम यह करता है कि हमें निःसंशय बना देता है। कोई भोगका, कोई धनका, कोई यशका उपार्जन करता

है, किन्तु सचाई क्या है, यह ज्ञात न हो और मनुष्य अन्धकारमें ही भटकता रहे तो धन, भोग, यश आदि कोई वस्तु उसे सुख नहीं देगी। उत्तम भोजन सामने आये और पता न हो कि इसके खानेका परिणाम क्या होगा तो? ज्ञान न हो तो उत्तमसे उत्तम सुख सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति नहीं दे पाता। किसी व्यक्तिके साथ चल रहे हैं; पर पता नहीं कि वह शत्रु है या मित्र, तो क्या उसका साथ सुख देगा?

शास्त्रमें वर्णन है : 'जिस मन्त्रका जप कर रहे हों, उसकी शक्ति और सचाईमें ही सन्देह हो तो उसके जपका फल नहीं मिलता : सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रः। पूर्णनिष्ठा, पूर्णविश्वासके बिना जपका फल नहीं होता। जहाँ हर समय चौकन्ना रहना पड़े, वहाँ शान्ति ही कहाँ? गीतामें संशयको सबसे बड़ा पाप बतलाया है :

संशयात्मा विनश्यति।—संशयात्मा नष्ट हो जाता है।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

मनमें संशय बैठ जाय तो न यह लोक है और न सुख। अतएव भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन, तुम्हें संशयको काटना चाहिए' :

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।

ज्ञान कहेगा : 'जहाँ शत्रु ले जायगा वहाँ भी मैं हूँ और जहाँ मित्र ले जायगा, वहाँ भी मैं हूँ। तुम अपने हृदयसे संशय निकाल डालो। मरोगे तो भी मैं और जिओगे तो भी मैं। सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक सर्वत्र एक अखंड सत्ता परिपूर्ण है। उससे छूटकर कहीं नहीं जा सकते, तो भय किस बातका?'

अर्जुन ज्ञानोपार्जक है। ज्ञानीका जीवन सरल होता है। अर्जुन सरल है। ऐसा सरल, ज्ञानोपार्जक जिज्ञासु अर्जुन प्रश्न करनेसे पहले श्रीकृष्णका स्तवन करता हुआ कहता है :

परं ब्रह्म : ब्रह्म = निरतिशय बृहत्ताशाली। आयु, लम्बाई-चौड़ाई और अनन्ततामें जिससे बढ़कर दूसरा कोई बड़ा न हो।

जब कभी झरोखेसे कमरेमें धूप आती है तो उसमें उड़ते दीखनेवाले छोटे-छोटे कण 'त्रसरेणु' कहलाते हैं। वे इसलिए उड़ते दीखते हैं कि वहाँ उनके घूमनेको आकाश है, वायु है और प्रकाश होनेसे दीखते हैं। ये पृथ्वी, चन्द्र-सूर्य, ग्रह-उपग्रह, तारे सभी आकाशमें त्रसरेणुके समान घूमते हैं। द्रव्यकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे उसे 'आकाश' कहते हैं, तो विस्तारकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे 'दिक्'। यह आकाश ब्रह्ममें प्रतीत होता है। जिसमें आकाश, मन, बुद्धि, काल, देश अभिव्यक्त होते और लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद् ब्रह्म, तद् विजिज्ञासस्व।

'जिससे ये सब प्राणि-पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न होकर पालित-जीवित हैं, जिसमें गतिशील है और अन्तमें जिसमें सब लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है। उसे जाननेकी इच्छा करो।'

अर्जुनने कहा : 'परं ब्रह्म' ब्रह्मको। 'परं ब्रह्म' तब कहते हैं जब उसमेंसे कारणताका बाध कर देते हैं। यतो वा इमानि भूतानि इस मन्त्रमें जिसका वर्णन है, वह ब्रह्म है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी व्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था जिसमें डूबती-उतराती है, वह ब्रह्म है। इस डूबने-उतरानेकी क्रियासे जो सर्वथा असंस्पृष्ट है, वह

परं ब्रह्म है। उस परम ब्रह्मका जो अनुभव कर लेता है, उसे परम तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

स जो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति।

परं ब्रह्म : एक भक्तकी दृष्टिसे यह बात कही जा रही है। अर्जुनके सामने सगुण-साकार श्रीकृष्ण सारथि रूपमें बैठे हैं। यदि अर्जुन समझता कि इनके भी शरीर, हाथ-पैर आदि हैं; इन्हें देखें कि ये ब्रह्म हैं या नहीं, तो इन्द्रियोंसे ब्रह्मकी जाँच नहीं होती। दीख रहा है मनुष्यका आकार और वह भी अपनेसे छोटे पदपर, फिर भी उसे अर्जुन 'परं ब्रह्म, परं धाम' कहते हैं। जैसे किसीको शालग्राममें चतुर्भुज नारायण या नर्मदेश्वरमें साक्षात् गौरीशंकर दीखें, वैसे ही शरीरपर दृष्टि न डालते हुए अर्जुनको श्रीकृष्णमें निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार दोनों रूपोंका प्रत्यक्ष हो रहा है।

पद्मपुराणके पातालखण्डमें एक कथा है। एकबार भगवान् नारायणके पास शंकरजी पहुँचे और प्रार्थना करने लगे : 'हमें अपने निर्गुण, निराकार, निर्धर्मक वास्तविक रूपका दर्शन कराइये।'

भगवान् नारायण बोले : 'मेरे पास वृन्दावनमें आइये।'

एक दिन शंकर भगवान् वृन्दावन पहुँचे। वहाँ देखते हैं कि राधा-कृष्णकी युगल-मूर्तिमें कभी श्रीकृष्ण गौराङ्ग राधा हो जाते हैं तो कभी श्री राधा श्यामाङ्ग कृष्ण। शंकरजीने उन्हें प्रणाम किया।

श्रीकृष्ण : 'कैसे पधारे ?'

शिव : 'आपने ही तो कहा था कि वृन्दावन आओ तो निर्गुण-निराकार रूपका दर्शन करायेंगे।'

श्रीकृष्ण हँसे : 'वह रूप तो यही है।'

शिव : 'जिसे मैं नेत्रोंसे देख रहा हूँ, वह निराकार कैसे ? जो इन्द्रियों द्वारा अनुभवमें आ रहा है, वह निर्गुण कैसे ? इन्द्रियोंसे जो अनुभवमें आये उसमें तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप गुण होते ही हैं।'

श्रीकृष्ण : 'ब्रह्मका लक्षण क्या है ?'

शिव : 'ब्रह्म निर्गुण होता है।'

श्रीकृष्ण : 'जो सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे बहिर्भूत हो, वही तो निर्गुण है ? जिसमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति न हों, जो विश्व-तैजस-प्राज्ञ न हो, जिसमें मूढता-विक्षेप-समाधि न हो, वही तो निर्गुण है ?'

शिव : 'हाँ, है तो ऐसा ही।'

श्रीकृष्ण : 'मेरा जो शरीर आप देख रहे हैं, वह न सत्त्व है, न तमस्। इसमें न तो इनमेंसे किसी गुणका कार्य है, न विश्व-तैजस-प्राज्ञ ही यह है। यही निर्गुण है।'

शिव : 'ब्रह्म निराकार होता है।'

श्रीकृष्ण : 'आकार कौन-सा ? प्रकृतिमें जो आकार बनता है, उसीका तो निषेध है। मेरा यह रूप प्राकृत आकार नहीं है। मुझमें न जाति है, न व्यक्ति। न विशेष है, न सामान्य। अतः मैं ही निर्विशेष हूँ।'

शंकरजी ब्रह्मके जितने लक्षण बतलाते गये, श्रीकृष्ण घटाते चले गये कि ये लक्षण मेरे इसी रूपमें हैं।

परं ब्रह्म : एक बार देवर्षि नारदजीको इच्छा हुई कि हमें परं ब्रह्म परमात्माका दर्शन हो। वे द्वारिकामें श्रीकृष्णचन्द्रके पास गये।

श्रीकृष्णने पूछा : देवर्षि, कैसे पधारे ?'

नारदजी : 'आपका दर्शन करने।'

श्रीकृष्ण : 'आपका दर्शन हो गया ?'

नारद : 'हो रहा है, आपको देख रहा हूँ।'

श्रीकृष्ण : 'नहीं नारदजी, अभी आपको मेरा दर्शन नहीं हो रहा है। जैसा दर्शन कंस, शिशुपाल, जरासंधको हुआ, वैसा ही आपने भी दर्शन किया तो क्या विशेषता ?'

एक मनुष्य दीखा। किसीने कहा : 'यह ब्राह्मण है।' ब्राह्मणत्व नेत्रसे नहीं दीखता। दूसरेने कहा : 'यह विद्वान् है।' क्योंकि जो विद्वान् है, वही विद्वत्ता जान सकता है। जिज्ञासुने बतलाया : 'यह ब्रह्मज्ञानी है।' तब अपनी श्रद्धासे वह ब्रह्मज्ञानी दीखने लगा। नेत्रने कहा था : 'मनुष्य है।' मनने कहा : 'ब्राह्मण है।' बुद्धिने विद्वान् बतलाया और श्रद्धालुने कहा, तब हृदयने माना : 'यह ब्रह्मज्ञानी है।'

वस्तुको कितने हो ढंगसे देखा जाता है। तुम वस्तुको कैसे देख रहे हो ? फोटो वैसी ही आती है, जैसा कैमरेका कोण होता है। अन्तःकरणकी स्थितिका देखनेपर प्रभाव पड़ता है। अर्जुनके अन्तःकरणकी स्थिति ठीक है, अतः उन्हें श्रीकृष्ण परब्रह्म दीखते हैं।'

आपका शरीर कैसा है, आप किस कुलके हैं, किस आयुके हैं, क्या करते हैं, यह हम नहीं देखते। हम देखते हैं कि आप परं ब्रह्म

हैं। यह परंब्रह्मके देखनेका मार्ग खुल गया। हमारे सामने कोई रंग हो, कोई आकृति हो, कैसा भी वर्ण हो, वहाँ अधिष्ठानरूपसे जो ब्रह्म है, उसीपर हमारी दृष्टि जाय।

'पिपर्ति इति परः'—विश्वसृष्टिमें जितने भी भेद-विभेद हैं, हुए या होंगे, उन सबका जो अधिष्ठान है, वह ब्रह्म है। वह ब्रह्म जब अपनी आत्मासे अभिन्नरूप ज्ञात हो जाय तो उसे परं ब्रह्म कहते हैं।

परं धाम : धामका अर्थ है प्रकाश—धामशब्दो ज्योतिर्वचनः।

अथ यदतः परः दिवो ज्योतिर्दृश्यते।

'जो आकाशसे परे प्रकाश है।' व्यष्टिमें सुषुप्तिसे परे एक ऐसा प्रकाश है जो सुषुप्तिको भी प्रकाशित करता है। जैसे मनुष्यके जीवनमें सुषुप्ति कार्यावस्था है, वैसे ही समष्टिके जीवनमें प्रलय कार्यावस्था है। यह होती और मिटती है। ये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति या सृष्टि-स्थिति-प्रलय जिसमें दीखते और लीन होते हैं, उसमें मायाका सम्बन्ध है। उस माया-सम्बन्धसे भी जो विलक्षण है, उसे परम ब्रह्म, परं धाम अर्थात् 'परं ज्योति' कहते हैं।

परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेण अभिसंपद्यते।
तं देवाः ज्योतिषां ज्योतिः।

जैसे सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियाँ बाहर नेत्रसे, नेत्र मनसे और मन आत्मासे ज्ञात होता है। स्वयंज्योति वह आत्मा है। ब्रह्मसे अभिन्न जो ज्योति है, वही परम धाम है और आत्मासे अभिन्न ब्रह्म परं ब्रह्म है।

'परं धाम' : जो सबको प्रकाश देता है। कबीरदासजी कहते हैं : वह साईंका लोक है। वे कहते हैं : 'यह आत्मा कन्या है,

जो संसारके विषयरूप डाकुओंके चक्करमें पड़ गयी है। इसे उसके पतिदेवके घर पहुँचना है। वह पतिका वरण करे, उनके घर पहुँच जाय, उनके द्वारा सुरक्षित हो।'

सुरत विरहुलिया छाई निज देस।
जहाँ न सूरत जहाँ न मूरत, पूरन धनी दिनेस॥

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम : भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता, वह मेरा परम-धाम है।' वही सबका घर है। श्रुति कहती हैं :

तदेकायतनाः तत्प्रतिष्ठाः।

सन्मात्र ब्रह्म ही सबका घर है। वहीं जाकर सच्ची स्थिति होती है। जबतक दूसरेके घरमें मेहमान होकर रहेंगे, निकलना ही पड़ेगा।

दुनिया दुरंगी है सच्ची सराय।
कहीं खूब खूबी कहीं हाय हाय॥

स्वर्ग और सत्यलोक दोनों होटल हैं। इनमें तबतक रहना होता है, जबतक जमा-पूंजी है। फिर तो जिन्हें 'मेरा-मेरा' बोलते हो, वे माँ-बाप, पत्नी, भाई, पुत्र ही तुम्हें घरमें दो घड़ी भी नहीं रहने देते, निकाल बाहर कर देते हैं :

चार जना मिलि खाट उठाई, रोवत ले डगर डगरिया।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, संग चली चार सूखी लकरिया॥

यहाँ तुम्हारी पूँजी बने सारे पदार्थ मकान-मोटर, सोने-सा शरीर, रुपया-पैसा यहीं छूट जायगा। यह अपना धाम, रहनेका घर नहीं है। भ्रमवश इसे अपना समझते हो। जबतक अपने घर

नहीं पहुँचोगे, इसी तरह निकाले जाते रहोगे। तुम्हारा असली निवास-स्थान तो परमात्माका स्वरूप है।

पवित्रं परमं भवान् : पवित्र वह है, जिसमें दूसरा कुछ न मिला हो। आपसे कोई कहें कि 'शुद्ध गेहूँ लाओ' तो क्या जिसमें जौ, चना आदि मिला हो, वह शुद्ध गेहूँ होगा ? 'शुद्ध पानी लाओ' कहनेपर चीनी-मिला पानी शुद्ध जल होगा ? संसारको पृथक् कर दो, परमात्माको पृथक् कर दो, तब सब संसारसे विविक्त परमात्मा ही विशुद्ध कहा जायगा। वह पवित्र है। वह परम पवित्र तब होता है, जब विविक्त किये गये संसारका अस्तित्व बाधित हो जाता है। द्रष्टा या अधिष्ठान होकर वह 'पवित्र' है। किन्तु जब द्रष्टामें दृश्यका या अधिष्ठानमें अध्यस्तका बाध हो जाता है, तब उस अद्वय वस्तुका नाम 'परम पवित्र' हो जाता है।

यहाँ 'परम ब्रह्म' कहकर कालसे, 'परं धाम' कहकर देशसे और 'परं पवित्र' कहकर विषयसे उसे अछूता बतलाया। जिसमें देश, काल और दूसरी अन्य वस्तुएँ नहीं, वे परम ब्रह्म श्रीकृष्ण है।

श्रीकृष्ण पूछते हैं : 'क्या जानते हो कि ऐसा ब्रह्म मैं हूँ ?'

जब शिष्य गुरुसे कहेगा : 'आप ब्रह्म हैं' तो गुरुको कहना पड़ेगा : 'जो ब्रह्म हूँ, वही तुम हो।'

'पवित्रं परमं भवान्'—'पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रम्।' वहाँ इन्द्रका वज्र भी नहीं पहुँचता। दुःखकी वहाँ कोई शङ्का ही नहीं। वह निर्भय स्थान है, अविनाशी है, चेतन है तथा दुःख और दुःखके कारणोंसे सर्वथा रहित है।

प्रश्न होगा : 'व्यवहारमें उसे कैसे ढूँढ़े ?'

कुछ लोग पीपलकी पूजा कर रहे थे। एकने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा : 'मूर्ख वृक्षकी पूजा क्यों कर रहे हैं?'

बाबा हँस पड़े। उसने पूछा : 'आप हँस क्यों रहे हैं?'

बाबा : 'अपनी दृष्टिसे वे जड़की पूजा कर रहे हैं या तुम्हारी दृष्टिसे या मेरी दृष्टिसे जड़की पूज रहे हैं?'

वह : 'आप ही बतलायें।'

बाबा : 'अपनी दृष्टिसे वे साक्षात् वासुदेवकी पूजा कर रहे हैं। वासुदेवकी पूजा करने क्या गोलोक जायँगे? क्या पहले मरें, तब पूजा करें? उन्हें तो यहीं वासुदेव चाहिए। मेरी दृष्टिमें वे मेरी ही पूजा कर रहे हैं।'

वह : 'मुझे तो लगता है कि वे जड़की पूजा कर रहे हैं।'

बाबा : 'श्रद्धाकी दृष्टिसे वे वासुदेवकी पूजा कर रहे हैं। चेतनकी दृष्टिसे चेतनकी पूजा कर रहे हैं और जड़की दृष्टिसे जड़की पूजा कर रहे हैं।'

'पुरुषम्' : श्री रमण महर्षिसे किसीने पूछा : 'ईश्वर साकार कैसे?'

महर्षि : 'तुम साकार कैसे? तुम तो आत्माको असंग, द्रष्टा, स्वयंप्रकाश, साक्षी, चैतन्य कहते हो। जबतक तुम 'त्वं' पदके अर्थंको साकार अनुभव कर रहे हो, तबतक तुम्हारे पास ऐसा क्या कारण है जिससे 'तत्'-पदार्थंको साकार रूपसे अनुभव नहीं करते?'

सरूप धीरात्मनि यावदस्ति।

जबतक अपनेमें रूपवत्ताका प्रत्यय है—'मैं यह देह, मनुष्य, कर्ता-भोक्ता हूँ' यह ज्ञान है तबतक पुरुष जैसा है, ईश्वर भी उसके लिए वैसा है।

पुरुविधोऽन्वयन्न चरमोऽन्नमयादिषु यः।

उपनिषद्में परमात्माका नाम 'पुरुषविध।' आता है। सोनेकी चाहे जैसी मूर्ति बनाओ, सोना कहाँ है? उसमें तो 'प्रतिमाविधः' उसी मूर्तिके आकारमें है। रज्जुमें सर्प दीखता है। रस्सी कहाँ है? तो 'सर्पविधः'—सर्पके रूपमें है।

अन्नमय कोशमें अन्नमय पुरुषरूपमें वही है। प्राणमय कोशमें प्राणमय पुरुषरूपमें वही है। मनोमय कोशमें मनोमय पुरुषरूपमें वही है। विज्ञानमय कोशमें विज्ञानमय पुरुषरूपमें वही है। आनन्द-मय कोशमें आनन्दमय पुरुषरूपमें वही है। कोशातीत होनेपर आकृतिके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित रूपमें जो है, वही पुरुष है। 'पूर्णत्वात् पुरुषः'—सबमें वह परिपूर्ण है।

पुरुषं शाश्वतम् : दूसरे सभी पुरुष अशाश्वत होते हैं। कभी जन्मे और कभी मर गये। किन्तु श्रीकृष्ण शाश्वत पुरुष हैं। मत्स्य, कच्छप, वाराह, अश्वादि रूपोंमें पुरुष है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि रूपोंमें पुरुष हैं। जहाँ-जहाँ उपलब्धित्व और भोक्तृत्व है वहाँ-वहाँ पुरुषत्व है। जितने प्रतीत होते हैं, उन्हें प्रतीत करानेवाला भी यही है। सम्पूर्ण विषयोंकी उपलब्धि इसीको होती है, उपनिषद्में आता है :

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

यहाँ गीतामें दिव्य आया, अमूर्तके लिए विभु और अज आया।

बाह्याभ्यन्तरके लिए आदिदेव आया है। इस प्रकार श्रुतिमें पुरुषका जो रूप-वर्णन है, गीताके इस श्लोकमें उसीका अनुवाद है।

पुरि शयत्वाद् वा पुरुषः—सबके हृदयमें सोनेके कारण उसे पुरुष कहते हैं। पुरूणि स्यति इति पुरुषः—अर्थात् जो बहुत्वमें एकत्वके रूपसे रहता है, वह 'पुरुष' है।

सबके भीतर पुरुष है। नेत्रके झरोखेसे वही देखता, 'द्रष्टा' है। कानसे वही सुनता, 'श्रोता' है। नाकसे सूँघता हुआ वही 'घ्राता' है। त्वचासे स्पर्श करता हुआ 'स्प्रष्टा' है। जीभसे रस लेता हुआ 'रसयिता' है। इन्द्रियाँ उसकी करण-यन्त्र हैं।

वह कबसे इन शरीरोंमें बैठा है?

शाश्वतम् : कालमें गति है—क्षण, घड़ी, दिन-रात बीतते जा रहे हैं। किन्तु इनके चलनेपर भी जो नहीं चलता, एकरस बैठा रहता है, वही शाश्वत है।

दिव्यम् : वह दिव्य है। मनुष्यशरीर भौतिक होता है। कोई ऐसा शरीर हो, जिसमें पञ्चभूत न हो, चेतन ही चेतन हो, आनन्द ही आनन्द हो, अविनाशी हो तो वह 'दिव्य पुरुष' है।

दिव्यम् : दिवि भवम्—जो आकाशमें ही प्रकट हो। माँ नहीं, बाप नहीं, गोत्र नहीं; वह आकाशमें ही प्रकट होता है।

ईश्वर हर क्षण, हर स्थानपर रहता है। वह कहींसे आता नहीं, केवल मनुष्यकी बुद्धिपर पड़ा पर्दा हटा देता है। पर्दा ईश्वर-पर नहीं, वह मनुष्यकी बुद्धिपर पड़ा है :

घनच्छन्नदृष्टिः घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।

जैसे दृष्टिका अवरोध बादलोंसे होता है; किन्तु अत्यन्त मूर्ख लोग सूर्यको बादलोंसे ढँका निष्प्रभ मानते हैं।

दिव्यका अर्थ है, जो अभी यहीं प्रकट हो जाय।

दिवि द्योतनात्मके हृदि वर्तमानः। दिव्यका अर्थ है, हृदयमें प्रकाशक रूपसे विद्यमान।

'दिव्य' अर्थात् खिलाड़ी। जो संसारका खेल खेल रहा है : आपहि खेलत आप खिलौना।

दिव्य = जयनशील। जिसकी जीत ही जीत होती है। जीवनमें कभी बुराई मनपर अधिकार पा लेती है तो कभी भलाई। ये आती-जाती रहती हैं, पर वह एकरस ही है। जीवनमें कितनी बार शोक, मोह, सुख-दुःख आये, पर आत्मदेव ज्यों-के-त्यों है। अतः स्तुति करनेयोग्य 'दिव्य' केवल वही है। वही परमानन्द है।

आदिदेवम् : उसे ढूँढ़ें कहाँ ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश जब प्रकट हुए तो वह देवता विद्यमान था, जिससे ये प्रकट हुए। जैसे तुम्हारे कुलका जिससे उत्पत्ति हुई, वह कुलका आदिपुरुष है, वैसे ही मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता, तृण प्रभृति सबकी आदि शाखाएँ जिससे निकलीं, वह आदिदेव है। जैसे नदीके किनारे धाराके उलटे चलते-चलते उसके उद्गमतक पहुँचते हैं, वैसे ही ये जो नेत्र-कर्णादि नदियाँ बह रही हैं, उन्हें ढूँढ़ते-ढूंढ़ते उनके मूलमें पहुँचो तो वह आदिदेव मिलेगा।

अजम् : जितने देवता हैं, वे जायमान हैं, किन्तु यह अजन्मा है। इसका जन्म हो तो उसे कौन देखेगा ? किससे होगा ? सबसे

पहले तो यही था, सबको देखनेवाला यही है। इसका जन्म, आदि नहीं है।

विभुम् : जो सर्वत्र रहे, वह विभु है। वह अजन्मा सर्वत्र रहता है। यहाँ जायमानत्वका निषेध करने के लिए इसे 'अजन्मा' कहते हैं और परिच्छिन्नत्वका निषेध करनेके लिए 'विभु'। इसमें तत्त्वतः तो जायमानता और अजायमानता दोनों नहीं हैं। जिसमें सब स्थानोंकी कल्पना होती है, वह विभु है।

ऐसे ये हैं देवकीनन्दन, शुद्ध प्रज्ञासे जाने जानेवाले वासुदेव! शुद्धान्तःकरणमें प्रतिभासित होनेवाले, वृत्तिज्ञानके रूपमें प्रकट होकर अविद्या-पूतनाको नष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण! ●

१३. श्रीकृष्ण-माहात्म्य-वर्णन

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
नहि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

—१०.१३–१५

अर्जुन कहता है : 'भगवन्! आपको सभी ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासादि (ऐसा ही 'परम पुरुष') कहते हैं और स्वयं आपने भी मुझसे यही कहा है। केशव! मुझसे आपने जो कहा है, वह सब मैं सत्य मानता हूँ। भगवन्! आपकी अभिव्यक्तिको न देवता जानते हैं और न दानव। पुरुषोत्तम! अपने आपको आप स्वयं ही जानते हैं। आप भूतभावन, भूतेश, देवताओंके भी देवता और जगत्पति हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे : जितने बड़े-बड़े ऋषि-ज्ञानी हैं, वे तुम्हें 'ब्रह्म' कहते हैं।

धर्मशास्त्रप्रणेतारो महिम्ना सर्वगाश्च ये।
तपःप्रकर्षः सुमहान् येषां ते ऋषयः स्मृताः॥

जो धर्मशास्त्र-प्रणेता हो—संसारकी मर्यादा बनायें; जिनकी

महिमा सर्वत्र हो और जो महान् तपस्या करनेवाले हों, उन्हें 'ऋषि' कहा जाता है।

ऋषन्ति अवगच्छन्ति इति ऋषयो मन्त्राः।

वेदके एक-एक मन्त्रके एक-एक ऋषि हैं। वे परमात्माके स्वरूपको जानते हैं अर्थात् स्वयं वेद परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

युधिष्ठिरादि पाण्डवोंको जितने ऋषि मिलते, सभी श्रीकृष्णको परमात्मा कहते। अर्जुन यहाँ उनमें से मुख्य-मुख्यके नाम बतला रहे हैं।

'ऋषयः' से वेदकी प्रमाणरूपता सूचित करते हैं। देवर्षि नारदका नाम लेनेका अर्थ है कि पंचरात्र भी इस विषयमें प्रमाण है, क्योंकि पंचरात्रके कर्ता देवर्षि नारद हैं।

असित : यह हमारा द्रष्टा है, जो कहीं बद्ध नहीं होता।

देवल : सम्पूर्ण इन्द्रियरूप देवताओंको अपने वशमें रखनेवाला मन।

व्यास : वाक्यकी देवता—वाणी भी यही कहती है।

वेद, पांचरात्रको प्रमाण बतानेवाले, द्रष्टामें आत्मा-रूपसे रहनेवाले, मन-इन्द्रियोंको प्रकाशित करनेवाले, वाणीको प्रेरणा देनेवाले जो आप स्वयं हैं, वे भी ऐसा ही कहते हैं। सब कहनेवाले तो कहते हैं, किन्तु सुननेवाला मानता है या नहीं। सुननेवाला न माने तो सबका कहना व्यर्थ हो जाता है।

जिसने ब्रह्मको नहीं देखा, वह किसीको ब्रह्मज्ञानी मानता है तो श्रद्धासे मानता है। ब्रह्मज्ञानसे पूर्व मुमुक्षु 'तत्त्वमसि' आदि

महावाक्योंको ब्रह्मानुभूतिमें प्रमाण मानता है तो श्रद्धासे ही मानता है। अतः बिना स्वीकृतिके कोई एक पद भी कैसे चलेगा? जब अन्तःकरण बाधित हो जायगा, तब श्रद्धा बाधित होगी, पर जबतक वह बाधित नहीं, वहाँ श्रद्धा रहेगी ही। अर्जुन यहाँ श्रद्धा-पूर्वक श्रीकृष्णका माहात्म्य स्वीकार करता है। अर्जुन कह रहे हैं कि श्रीकृष्णके परमब्रह्म होनेमें वेदोंका और ऋषियोंका वचन प्रमाण है।

नये लोग चाहते हैं कि जो बात कहीं जाय, वह इन्द्रियोंसे—यन्त्रोंसे देखी जाय अथवा मन या बुद्धिसे अनुभवमें आये। वचन-प्रामाण्य क्यों माना जाय? किसीकी बात क्यों मान ली जाय? भले ही वह शास्त्रका ही वचन क्यों न हो।

जो वस्तु प्रमाणान्तरसे अधिगत या बाधित होती है, उसका निरूपण करनेमें शास्त्रकी कोई प्रामाणिकता नहीं। जैसे घड़ा नेत्रसे दीखता है तो वेदमें घड़ा लिखा हो या कोई बताये कि 'इसका नाम घड़ा है' यह अनावश्यक है; क्योंकि घड़ेका होना या न होना दोनों आँखोंसे दीखता है। इसमें वचनकी कोई प्रधानता नहीं।

लेकिन जो वस्तु किसी इन्द्रियकी ग्रहणशक्तिसे बाहर है, उसके विषयमें शास्त्र कोई बात कहता है तो यही कि 'इस घड़ेका पानी पीना चाहिए या नहीं।' शास्त्र उसमें धर्म-अधर्म या विधि-निषेधका ही वर्णन करेगा, वस्तुके होने-न होनेका वर्णन नहीं।

मनमें आया हुआ क्रोध या लोभ यन्त्रगम्य हो सकता है। यन्त्र लगा दें तो रक्तकी गति कितनी बढ़ गयी, यह पता लग सकता है। लेकिन 'मैं सुखी या दुःखी हूँ' यह किसीको बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि इस प्रकारकी बातें ही शास्त्र बतलाये तो

वह अनुवादकमात्र रह जायगा। वह इन्द्रिय, मन या बुद्धिके अनुभवको ही बतलानेवाला कहलायेगा। जैसे लोग कहानी लिखते हैं तो घरोंमें जो कुछ होता देखते हैं या यन्त्रोंसे जो पता लगता है, लिख देते हैं।

शास्त्र ऐसी ही बात बतलाता है जिसका नेत्र-कर्णादि किसी इन्द्रिय, मन या बुद्धिसे पता नहीं लगता। अखण्ड वस्तु इन्द्रियोंसे तो दीख नहीं सकती और न मनमें वह आ सकती है। बुद्धिमें आये भी तो 'वह चेतन, जड़ या शून्य है' यह कैसे पता लगेगा? 'मैं हूँ' यह न नेत्रसे देखा जाता है और न कानसे सुना जाता तथा न मनसे जाना ही जाता है। क्योंकि जो मनको जानता है, वही यह है। यह बुद्धिसे भी नहीं जाना जाता, क्योंकि बुद्धिको भी जानता है।

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते॥

जिसकी सत्तासे प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमाकी सिद्धि होती है, उसकी सिद्धिके लिए किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं।

तुम हो, तुम जानते हो, यह ठीक बात है। यह बिना किसी अन्य प्रमाणके स्वतःसिद्ध है। यह समस्त कारणोंका और सब प्रमाणोंका भी साक्षी है। साक्षीके 'अस्तित्व', 'भान' और 'प्रियता' पर भी कोई आवरण नहीं। 'मैं' हूँ, जानता हूँ, प्रिय हूँ' यह स्वतः-सिद्ध है, इसपर कोई पर्दा नहीं है। इसमें वचन-प्रमाणकी कोई आवश्यकता नहीं।

दूसरी ओर जिसका मैं साक्षी हूँ, जिसे मैं जानता हूँ, वह क्या है? कोई-कोई ऐसा विवेक करते हैं कि देश, काल और वस्तुकी

कल्पनाओंमें देश और काल वस्तु कल्पनाधीन हैं, पर मैं कल्पनाओं-का साक्षी हूँ। अतः देश-काल-वस्तु मुझमें कल्पित हैं। यह एकजीव-वादकी प्रक्रिया है।

दूसरी प्रक्रिया है : जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रतीत होते हैं, वे पञ्चभूतोंमें हैं। पञ्चभूत तामस अहंकारमें हैं। इन्द्रियाँ, और मन सात्त्विक अहंकारमें हैं। कर्म, प्राणादि राजस अहंकारमें हैं। अहंकार महत्तत्त्वमें है। महत्तत्त्व अव्याकृतमें है। अव्याकृत परमात्मामें है और परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टिका आधार है। समूची सृष्टिका यह आधार अखण्ड, परिपूर्ण और अविनाशी है, यह कैसे पता लगेगा ?

जो वस्तु इन्द्रियोंसे दीखेगी, वही यन्त्र दिखा सकेगा। न तो साक्षी इन्द्रिय या यन्त्रसे दीखता है और न अखण्ड तत्त्व यन्त्रादिसे दीख सकता है। साक्षीमें न तो बुद्धिका प्रवेश है और न पर-मात्मामें। इस प्रकार जब सब प्रमाण अपने उस साक्षीको ब्रह्म बतलानेमें हार जाते हैं, तब कौन-सा प्रमाण उपयोगी सिद्ध हो सकता है ? तुम अपनेको नहीं जानते, यह किस प्रमाणसे सिद्ध है ?

कहना होगा—'अहमज्ञः' यह कल्पना ही प्रमाण है। इस कल्पित परिच्छिन्नताको दूर करनेके लिए 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यके समान केवल वचन ही प्रमाण होता है।

एकबार दस मनुष्य साथ यात्रा कर रहे थे। नदी पार करनी पड़ी तो पार जाकर गिनने लगे कि सब आ गये या नहीं। जो गिने, वह अपनेको छोड़ दे तो नौ आदमी निकलें। वे रोने लगे कि निश्चय ही एक नदीमें डूब गया। एक जानकार आया। उसने रोनेका कारण पूछा, फिर बोला : 'गिनो।' जब वह नौ-

तक गिन गया तो जानकारने कहा : 'दसवें तुम हो।' यदि दसवाँ सचमुच खो गया होता तो केवल वचन-प्रमाणसे कभी नहीं मिलता। भ्रमसे खो गया था, इसीलिए वचन-प्रमाणसे मिल गया। भ्रमसे नष्ट वस्तु वाक्य-प्रमाणसे मिल जाती है। अपनी ब्रह्मता भ्रमसे ही भूली हुई है। अतएव वह वाक्यसे ही जानी जाती है।

वाक्य किसका हो? विश्वास करना हो तो वक्ता कौन है, इसकी खोज करनी पड़ती है। लेकिन वस्तु प्रमाण हो तो कहनेवाला कौन है, यह देखनेकी आवश्यकता नहीं। यह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान वक्ताकी प्रधानतासे नहीं, वस्तुकी प्रधानतासे होता है। वेद यथार्थ वस्तुको बतलाता है, वक्ता कौन है, इसपर उसका जोर नहीं। इसी कारण वेदको 'अपौरुषेय वाक्य' कहते हैं। मनुष्यकी बातोंमें भ्रम-प्रमाद हो सकता है, ठगी हो सकती है, उसकी इन्द्रियाँ अनिपुण हो सकती हैं। लेकिन यह वेद-वचन वक्ताके अन्तःकरणका कोई दोष लिये बिना वस्तुका निरूपण करता है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही आत्मा-परमात्माका ऐक्य बतलानेमें प्रमाण होते हैं। इसीलिए 'किसने कहा' यह मत सोचो। यही देखो कि 'वह क्या कहता है।' सगुण-सविशेषके निरूपणमें ही वक्ताकी प्रधानता होती है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह दूसरे किसी प्रमाणसे ज्ञात नहीं होता और न दूसरे किसी प्रमाणसे कटता ही है।

श्री शङ्कराचार्य कहते हैं : नहि श्रुतिशतैरपि घटं पटयितुं शक्यते—सैकड़ों श्रुतियोंसे भी घड़ेको कपड़ा बनाना सम्भव नहीं। ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें केवल महावाक्य प्रमाण हैं—यह अपौरुषेय वेदवचन वेदान्तद्वारा ही सिद्ध होता है। परमात्माके निरूपणके सम्बन्धमें इन्द्रिय, यन्त्र, मन या बुद्धि कभी समर्थ नहीं होते। इनका जो साक्षी है, वह अनुभवस्वरूप है और उसकी ब्रह्मता श्रुतिसिद्ध

है। श्रुतिद्वारा भ्रान्ति या आवरणका भङ्ग कर दिये जानेपर वह स्वयं प्रकट है।

अर्जुन यहाँ श्रीकृष्णकी ब्रह्मतामें प्रमाण देते हैं : 'ऋषयः।'

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति—सब वेद जिसके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

असितः—अनुभवसे भी यही सिद्ध है।

देवलः—ये स्मृतिकार हैं। स्मृति भी यही कहती है। मनन करके जो बतलाये, वह देवल है।

व्यास—पुराणाचार्य व्यास हैं। तात्पर्य यह कि पुराण भी यही कहते हैं।

भगवान् व्यास महाभारतमें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें कहते हैं :

> एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः।
> नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मधुरां पुरीम्॥
> पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः।
> साक्षाद्देवो पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः॥
> एष वेदविदो विप्रो ये चाध्यात्मविदो जनाः।
> ते विदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मसनातनम्॥
> पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रपरमुच्यते।
> पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम्॥
> यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
> तत्कृत्स्नं हि जगत् पार्थ तीर्थान्यायतनानि च॥
> तत्पुण्यं तत्परं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम्।
> तत्परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम्॥

अर्थात् श्रीकृष्ण साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। ये क्षीरसागर-शायी शेषशय्या त्यागकर मथुरामें अवतीर्ण हुए हैं। जहाँ ये मधुसूदन रहते हैं, वह द्वारिका पवित्र है। ये साक्षात् पुराणपुरुष, सनातनधर्मकी मूर्ति हैं। जो भी वेदको जाननेवाले ब्राह्मण हैं और जो अध्यात्मतत्त्वज्ञ हैं, वे महात्मा श्रीकृष्णको सनातन धर्म-स्वरूप जानते हैं। गोविन्द पवित्रोंमें परम पवित्र और मंगलोंमें परम मंगल हैं। पार्थ! जहाँ ये सनातन परमात्मा देवदेव नारायण रहते हैं, वही सम्पूर्ण जगत्, सभी तीर्थ और सभी देवस्थान हैं। वही पवित्र है, वह परब्रह्म है, वह तीर्थ है, वह तपोवन है जहाँ ये परमतत्त्व, परमदेव और सभी प्राणियोंके परमेश्वर हैं।'

भीष्म पितामह कहते हैं :

कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्।

यह सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक विश्व-सारी चर-अचर सृष्टि श्रीकृष्णकी ही बनायी है।

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।

श्रीकृष्ण ही सब लोकोंकी उत्पत्ति एवं प्रलयके कारण हैं।

अर्जुन कहता है : स्वयं चैव ब्रवीषि मे। भगवन्! गीतामें स्वयं आप भी यही कहते हैं :

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

धनञ्जय! मुझसे परे एवं श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

मैं सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलय हूँ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

मेरे इस योगको देखो कि सब भूत मुझमें हैं, पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा भूत मुझमें नहीं हैं।

अर्जुन कहते हैं: सर्वमेतदृतं मन्ये। 'मैं यह सब सच मानता हूँ। मुझे इसमें कोई शङ्का नहीं है।' संशयात्मा विनश्यति—जिसके मनमें शंका आती है, उसे दुःख होता है। संशय दुःखका पूर्वरूप है। जिसके जीवनमें दुःखदायी प्रारब्धका उदय होनेवाला होता है, उसीके अन्तःकरणमें संशय जागता है। अर्जुन कहते हैं कि 'हमारे हृदयमें संशय नहीं, श्रद्धा है। तुमपर और असित, देवल, व्यास, देवर्षि नारद आदि सभी ऋषियोंपर श्रद्धा है।

यन्मां वदसि केशव: 'अंशवः केशसंज्ञिताः' (महाभारत)—केशवका अर्थ है ज्योतिर्मय। जिनका मुखमण्डल ज्योतिर्मय है।

कश्च अश्च ईशश्च केशाः, तान् वयते प्रशास्ति।

अर्थात् क=ब्रह्मा+अ=विष्णु+ईश=शिव, इनपर जो शासन करे, वह केशव है। महाभारत उद्योगपर्वमें 'केशव' का यह अर्थ बताया गया है। अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु, शिवको जो अपने शासनमें रखता है, वह 'केशव' सर्वान्तर्यामी है।

यन्मां वदसि अहं एतत् सर्वमृतं मन्ये: अर्जुन कहता है कि 'केशव! 'मैं मानता हूँ कि तुम जो कहते हो, वही सम्पूर्ण वेदोंका परम तात्पर्य है। मेरा इसमें पूरा-पूरा विश्वास है।'

परमार्थ-मार्गमें चलना हो तो श्रद्धाको पूँजी लेकर ही चलना होगा। श्रुति कहती है:

श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

गीताने भी कहा है :

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

तत्पर, संयतेन्द्रिय और श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। जिसके पास श्रद्धाका संबल नहीं, वह ज्ञान नहीं पा सकता।

ईश्वर रोग दे, वियोग दे या मृत्यु दे, फिर भी मालूम यही पड़े कि वह हमारा भला ही कर रहा है। चित्तमें जब ऐसी श्रद्धा हो, तभी मनुष्य इस मार्गपर चल सकता है। गोस्वामीजी भी कहते हैं।

जे श्रद्धा संबल रहित, नहि संतन्ह कर साथ।
तिनकहँ मानस अगम अति, जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

परमात्मासे प्रेम हो, संतोंका साथ हो तथा श्रद्धाका भोजन अपने पास हो, तो यह मार्ग सुगम हो जाता है।

एक बड़े तार्किक महात्माने मुझे बतलाया कि श्रद्धाको कैसे समझें : "एक थे गुरु। उनके सामने पीतलका एक चमकता लोटा आया तो बोले : 'यह सोनेका है।'

एक शिष्य : 'सोनेका नहीं, पीतलका है।'

दूसरा : 'आपकी दृष्टिसे सोना दीखता है तो सोनेका होगा; किन्तु हमारी संसारी दृष्टिसे तो पीतल ही दीखता है।'

तीसरा : 'आपके श्रीमुखसे निकल गया कि यह सोनेका है तो यह बात झूठी कैसे होगी? यह एकदम शुद्ध सोनेका है।'

चौथेने लोटा उठाया, बाजारमें ले गया। वहाँ सराफके सामने रखा तो पीतलसे सोना हो गया।

गुरुने संकल्प नहीं किया कि पीतलसे सोना हो जाय। सराफ तो क्यों संकल्प करता? श्रद्धालुकी श्रद्धादृप्त दृष्टिने ही पीतलको सोना बना दिया। शक्तियाँ तो सिद्धके संकल्पमें होती हैं या साधककी श्रद्धामें। दोनोंमें वस्तुके स्वरूपको बदल देनेकी शक्ति है।"

गुरु और शास्त्रके वचनको सर्वथा सत्यरूपमें धारण करना श्रद्धा है। उसमें सन्देह हो तो उसे अपने अन्तःकरणका ही दोष मानना चाहिए। मनुष्य भोजनमें रसोइयेपर, दवामें डाक्टरपर और बाल बनवाते समय नाईपर श्रद्धा करता है। पूरे व्यवहारमें मनुष्य श्रद्धा किया करता है। फिर परमार्थके मार्गमें श्रद्धा न करना कैसे चलेगा?

× × ×

छठे अध्यायमें अन्तरंग साधन योगाभ्यासका वर्णन है। तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायोंमें कर्मयोग और कर्म-संन्यासका वर्णन है। दूसरे अध्यायमें तो सबका मूल है ही। सातवें अध्यायसे नवें अध्यायतक प्रमेयप्रधान निरूपण हुआ। सातवें अध्यायमें सर्वात्मा भगवान्‌का वर्णन है:

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

अर्थात् अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचेतस् मरते समय भी मुझे जानते हैं। समग्र ब्रह्मके ज्ञानकी प्रतिज्ञा की गयी थी:

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।

अतः अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और दोनोंका मूल परमात्माका ही सब कुछ होना, यह सातवें अध्यायमें कहा गया ।

आठवें अध्यायमें दिव्यपुरुषकी प्राप्तिके लिए साधना है। नवम अध्यायमें ऐसे मूलतत्त्वका निरूपण है जिसमें सम्पूर्ण प्रपञ्च है, जो सम्पूर्ण प्रपञ्चमें है और जिसमें व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है। साथ ही इस अध्यायमें भक्तिका भी माहात्म्य कहा गया है।

अब इस दसवें अध्यायमें योग और विभूतिका भगवान्‌ने निरूपण किया तो अर्जुन उसे अधिक विस्तारसे जाननेकी इच्छा करते हैं। किन्तु इससे पूर्व वे श्रीकृष्णकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं : परं ब्रह्म परं धाम । 'भगवन् ! आप परम ब्रह्म परम धाम आदि हैं। इस तरह प्रशंसा करनेके बाद अर्जुन कहते हैं :

"भगवन्! वस्तुतः मनुष्य भगवान्‌को नहीं पहचान पाता; क्योंकि उनके विषयमें वह मनमें कोई न कोई कल्पना बैठा लेता है कि 'भगवान् ऐसे होते हैं। भगवान् निर्गुण ही है या सगुण-साकार ही। भगवान् राम ही, कृष्ण ही, नारायण ही, शिव ही या शक्ति ही है। यह 'एव' लगा देना परिच्छेद है।

भगवान्‌को दो प्रकारसे भगवान् कहा जाता है : १. समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य, ये छह 'भग' कहे जाते हैं। ये जिसमें सदा रहें, वह भगवान् है :

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

२. संसारकी उत्पत्ति-प्रलय कैसे होते हैं, जीव कहाँसे आते और कहाँ जाते हैं, अज्ञान क्या है और उसे निवृत्त करनेवाला ज्ञान क्या है—ये छह बातें जो जाने, उसका नाम भगवान् है :

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥—विष्णुपुराण

वेद और उपनिषदोंमें 'भगवान्' शब्दका प्रयोग केवल ईश्वरके लिए ही नहीं है। 'भगवान् वशिष्ठः, भगवान् शुकः' आदि प्रयोग विशेष रूपमें हैं। शिष्य तो गुरुको 'भगवान्' कहता ही है।

भगवान् शब्दमें 'भग' का अर्थ है माया। भगवान् अर्थात् मायावी। मायाविशिष्ट चैतन्य, मायापति भगवान् हैं। मायापति होनेका अर्थ है मायाके हाव-भावमें न फँसना।

तुमका माया नाचौ कूदौ, हमहूँ बड़े नचनियाँ।
इहाँ तुम्हारो दाल न गलिहै, हम हैं पलटू बनियाँ ॥

अर्थात् मायाकृत उपाधिसे युक्त न होना ही भगवत्त्व है : उपाध्य-संस्पृष्टत्वं भगवत्त्वम् ।

ते व्यक्ति विदुर्देवा न दानवाः—तुम्हारी इस भगवत्ताकी अभिव्यक्तिको देवता भी नहीं जानते तो दानव कहाँसे जानेंगे ?

व्यक्ति : प्रकट होता। पिताके वीर्यमें हाथ-पैर, नाक-कान आदि अव्यक्त थे। माताके पेटमें आकर उनकी आकृति व्यक्त हो गयी। अव्यक्तसे व्यक्त होनेके कारण ये सब 'व्यक्ति' कहे जाते हैं।

जिसमें बीज हो, वही व्यक्त हो। जैसे चनेके बीजमें अनादि कालसे चनेके संस्कार हैं, तभी उससे चनेका पौधा निकलता है।

लेकिन अव्यक्त परमात्मासे नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, पार्थ-सारथि, हाथमें चाबुक-धारी ज्ञानमुद्रामें बैठा भगवान् कैसे व्यक्त हुआ? यह कौन है? यह परमात्माकी ही व्यक्ति है। इसे पहचानना बड़ा कठिन है। भगवान्ने पहले ही कह दिया है:

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

यहाँ इसी बातको अर्जुन दुहराते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यने अपने गीता-भाष्यमें यहाँ प्रश्न किया है: किमात्मिका भगवतोऽभिव्यक्तिः? अर्थात् भगवान्के व्यक्त होनेमें उपादान क्या है? उत्तर है: यदात्मको भगवान्। जो भगवान् हैं, वही उनकी अभिव्यक्ति है। इसका अर्थ है—साकार क्या? जो निराकार है। जो निराकार है, वही साकार दीख रहा है। दोनोंमें भेद नहीं। जो अन्तर्यामी पुरुष है, वही वैकुण्ठमें नारायण है।

गङ्गा-किनारे एक वृद्ध सन्त रहते थे। उन्होंने एकबार कहा: 'आभास भी नित्य होता है।'

वेदान्तियोंमें इससे कोलाहल मचा। किन्तु विचार करो तो अन्तःकरण अनादि है और प्रवाहरूपसे नित्य है। माया भी अनादि है और प्रवाहरूपसे नित्य है। यदि माया न हो और जीवन हो तो ईश्वर क्या करेगा? प्रजा न हो, भूमि न हो तो कोई राजा किसका? भूमि है माया, जीव है प्रजा तो उनका स्वामी है ईश्वर। इसीलिए कहा है:

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

जीव और प्रकृति दोनों अनादि हैं तथा प्रवाहरूपसे नित्य भी हैं। अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य प्रकृतिमें जो चैतन्यका आभास

पड़ेगा, वह भी अनादि और नित्य होगा। अनादि और नित्य अन्तःकरणमें पड़ा आभास भी अनादि और नित्य होगा। माया भासेन जीवेशौ करोति—यह अनादि और नित्य माया ही अपनेमें पड़े चेतनके आभाससे जीव और ईश्वरका भेद बनाती है।

यदि भौतिक-दृष्टिसे विचार करें तो श्रीकृष्ण ब्रह्मकी अभि-व्यक्ति सिद्ध नहीं होंगे। यदि ब्रह्म-दृष्टिसे विचार करें तो ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। लौकिक-दृष्टिसे ईश्वरत्व गम्य नहीं है और ब्रह्म-दृष्टिसे तो है ही नहीं। तब शास्त्र-दृष्टिसे ईश्वरत्व गम्य हुआ। अतः श्रीकृष्णमें ईश्वरत्व अनिर्वचनीय है। शास्त्र उन्हें 'ब्रह्म' बतलाता है।

विदुर्देवा न दानवाः का तात्पर्य है कि यह बात ज्ञेय नहीं है। जैसे घट-पट-मठ सब इन्द्रियोंसे दीखते हैं, वैसे श्रीकृष्णके व्यक्तित्वको इन्द्रियोंसे नहीं देखा जा सकता। भक्ति-संस्कार-संस्कृत अन्तःकरणसे ही श्रीकृष्णका दर्शन होता है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है :

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तः मम भूतमहेश्वरम्॥

मेरे परम भाव—सम्पूर्ण भूतोंके महेश्वरस्वरूपको न जानकर मूर्ख मनुष्यावतार धारण किये मेरा तिरस्कार करते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

वैष्णव इसका यह भी अर्थ करते हैं कि अवतारूपमें प्रत्यक्ष होते हुए भी बुद्धिहीन लोग मुझे अव्यक्त मानते हैं : व्यक्तिमापन्नं माम् अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते।

एक महात्माके पास कोई गया और बोला : 'मुझे ब्रह्मका साक्षात्कार कराइये।'

महात्मा : 'मैं ही ब्रह्म हूँ।'

'आपका साढ़े तीन हाथका शरीर, दो मनका भार, सत्तर वर्षकी आयु! आप कैसे ब्रह्म हो सकते हैं?'

महात्मा : 'तुम मिट्टीका डला क्यों देखते हो, मुझे देखो। मैं यदि वास्तविक ब्रह्म नहीं तो दूसरा कोई ब्रह्म हो नहीं सकता।'

दानव क्रोधी हैं, देवता भोगी-कामी हैं, तो मानव लोभी हैं। मनुष्याकृतिमें भी कोई कामप्रधान देवता तो कोई क्रोधप्रधान दानव होते हैं। इन काम, क्रोध, लोभको हटाओ। दानवत्व और देवत्वसे ऊपर उठो।

परमात्मा आँख, नाक, कान, त्वचा, जीभ, मन और बुद्धिसे नहीं जाना जाता। तब उसे जाननेका उपाय क्या है?

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम् : स्वयं वही अपनेको जानता है। जब हम उससे एक हो जाते हैं, तब अपने रूपमें उसको जानते हैं। जबतक उससे पृथक् रहते हैं, तबतक उसे नहीं जान पाते।

अर्जुनका प्रश्न ही अमृत हो गया है। अर्जुनके वचनकी अभिव्यक्ति विलक्षण है। वे कहते हैं : 'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने आपसे अपने आपको ही जानते ही हो। 'एव' का सर्वत्र अन्वय है : आत्मना एव आत्मानमेव वेत्थ एव।

अपने आपको स्वयं ही जानते हो, अर्थात् तुम्हें जाननेवाला दूसरा कोई नहीं। यह दृश्यताका खंडन हो गया। संसारके

विषयोंमें जाननेवाला भिन्न और जाना जानेवाला भिन्न होता है। जैसे हम रूमालको जानते हैं। किन्तु 'स्वयमेव'में विषय-विषयीभाव नहीं है, अर्थात् तुम निर्विषय हो।

आत्मना एव वेत्थ : अपने आपसे ही जानते हो। महात्मा लोग परमात्माको जानते हैं; किन्तु 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य-जन्य ब्रह्माकार वृत्तिके द्वारा जानते हैं। अथवा भक्ति-संस्कार-संस्कृत माहात्म्यज्ञानरूपा वृत्ति द्वारा जानते हैं। तुम अपनेको स्वयं जानते हो, उसमें वृत्तिकी आवश्यकता नहीं।

जीवमें परमात्माको जाननेसे पूर्व वृत्तिज्ञानका प्रागभाव रहता है। तब यह अनुभव रहता है : 'अहमज्ञः'। जब वृत्तिज्ञान होता है, तब अविद्याका नाश होकर वृत्ति भी बाधित हो जाती है। किन्तु परमात्माको तो कभी 'अहमज्ञः' यह ज्ञान था नहीं, अतः उत्पन्न वृत्तिसे इनका अज्ञान मिटनेकी बात ही नहीं। अतएव 'आत्मना वेत्थ' का अर्थ है कि परमात्मा निर्वृत्तिक है।

आत्मानमेव वेत्थ : दूसरे लोग जब संसारमें किसीको जानते हैं, जैसे रूमालको जाना, तब एक फलवृत्तिका उदय होता है—'मैं रूमालको जानता हूँ।' अयं घटः, अहं घटं जानामि 'यह घड़ा है, मैं घड़ेको जानता हूँ' इसे 'फलव्याप्ति' कहते हैं। किन्तु 'आत्मानं वेत्थ' का अर्थ है कि फलव्याप्ति नहीं है। 'मैं जान गया' यह अभिमान भी उत्पन्न नहीं हुआ। परमात्माके ज्ञानमें न वृत्तिव्याप्ति है, न फलव्याप्ति। तात्पर्य यह कि तुम ज्ञानस्वरूप हो।

संसारमें जिज्ञासुको अपने आप स्वयं ज्ञान नहीं होता, गुरुकी आवश्यकता होती है। एकबार जानी वस्तु हो तो दुबारा उसे स्वयं जान सकते हैं, किन्तु सर्वथा अनजानी वस्तु बिना किसीके

बतलाये समझमें आनेवाली नहीं। आप अनजानी वस्तुका नाम-तक नहीं बतला सकते। तब ईश्वरको बिना बतलाये कैसे समझेंगे? इसीलिए कहते हैं :

आचार्यात् हि विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।

आचार्य द्वारा जानी गयी विद्या ही लक्ष्यको प्राप्त कराती है। आचार्यवान् पुरुषो वेद।—जिसके आचार्य हैं, वही पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है।

यह प्रणाली जीवोंके लिए है। लेकिन ईश्वरका, श्रीकृष्णका गुरु कौन है? ये ईश्वर हैं, अतः इन्हें कभी अज्ञान हुआ ही नहीं। ये स्वतःसिद्ध ज्ञानी हैं।

जो मिट्टीके डलेमें अभिमान करके बैठेगा, उसे 'यह और मैं', पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण या आज-कल-परसों प्रतीत होगा। जिसने देहमें अभिमान ही नहीं किया, उस ईश्वरको 'उत्तर-दक्षिण, आज-कल' या 'मैं-यह' का भेद है ही नहीं। वहाँ भेद-भ्रान्ति नहीं, वे अपने आपको ही जानते हैं।

पुरुषोत्तम : तुम पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम हो। गीतामें तीन पुरुषोंका वर्णन है : १. क्षरपुरुष, २. अक्षरपुरुष और ३. पुरुषोत्तम।

क्षरपुरुष या विश्व-पुरुष विनाशी जगत् है, जिसे सातवें अध्यायमें भूमिरापोऽनलो वायुः आदिसे 'अपरा प्रकृति' कहा गया है। उसीको पन्द्रहवें अध्यायमें क्षरः सर्वाणि भूतानि से 'क्षरपुरुष' कहा गया है। पुरुष रूपमें उसे क्षरपुरुष कहा और स्त्री कहना हुआ तो कह दिया : 'अपरा प्रकृति'। अर्थात् संसारमें एक ही वस्तु है

जो कहीं पुरुष तो कहीं स्त्रीरूपमें प्रकट हो रही है। इसीको तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र' कह दिया। क्षरणशील या स्वयं गलनेवाला होनेके कारण ही इसे 'क्षर' कहते हैं।

इसमें एक पुरुष है कूटस्थ। इस कारणात्माको चैतन्यकी प्रधानतासे पन्द्रहवें अध्यायमें 'अक्षरपुरुष' कहा और कारणकी प्रधानतासे सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति'। जैसे आकाशमें बादल, अन्धकार, प्रकाश आते-जाते हैं, पर स्वयं आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है, वैसे ही कूटस्थ ज्यों-का-त्यों रहता है।

किन्तु परमात्मा तो इस कूटस्थ अक्षरपुरुषसे भी विलक्षण है : अक्षरात् परतः परः (कठोपनिषत्)।

क्षराक्षराभ्यां पुरुषाभ्यामुत्तमः पुरुषोत्तमः।

जो क्षर और अक्षर, कार्य और कारण दोनोंसे विलक्षण है, वह पुरुषोत्तम है। श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। वे न कूटस्थ हैं और न विनाशी। वे विनाशी-अविनाशी दोनोंसे विलक्षण हैं। वे स्वयं कहते हैं :

यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

अर्थात् चूँकि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे विख्यात हूँ।

'पुरुषोत्तम' शब्द तो वेदकी मूल संहिताओंमें नहीं है; किन्तु उत्तम पुरुषके रूपमें वेदोंमें परमात्माका वर्णन है।

'वह' प्रथम पुरुष है। 'तुम' मध्यम पुरुष और 'मैं' उत्तम पुरुष। 'वह, तुम, मैं' में 'मैं' उत्तम पुरुष है। 'मैं' के रूपमें

परमात्माका बहुत अधिक निरूपण है। जैसे—'अहं ब्रह्मास्मि'। यह श्रीकृष्णका ही वर्णन है।

'क्षेत्र' प्राकृत है और क्षेत्रज्ञ' सबमें पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। किन्तु सब क्षेत्रज्ञोंमें जो एक अखण्ड चैतन्य है, उसे 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। वही श्रीकृष्ण हैं।

जो भौतिक शक्तियों द्वारा अपनेको महान् समझते हैं, वे अधम पुरुष हैं। आधिदैविक शक्तियोंद्वारा अपनेको महान् समझते हैं, वे मध्यम पुरुष हैं। और आध्यात्मिक ज्ञानद्वारा अपने स्वरूपको जानते हैं, वे पुरुषोत्तम हैं। पुराणोंमें वर्णन है :

राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थं पुरुषोत्तमः॥

पार्थ! भौतिक शक्तियोंके स्वामी राजा जिसकी प्रशंसा करते हैं, दैवी वाक् विद्याके स्वामी पण्डित जिनकी प्रशंसा करते हैं और आध्यात्मिक शक्ति एवं अध्यात्म-विद्याके अधिष्ठान साधु जिनकी प्रशंसा करते हैं, जिसे तीनों अतीत मानें— इन विश्व (राजा), तैजस (पण्डित) और प्राज्ञ (योगी) से जो प्रशंसित, और इनसे परे है, वह पुरुषोत्तम (तुरीय) है।

भूतभावन : भूत=प्राणी। कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक और तृणसे लेकर प्रकृतितक सबके सब भूत हैं और इनके भावन भगवान् हैं। जैसे तुम मनमें मनोराज्य करते हो, वैसे ही भगवान्ने ये सब भूत भावनासे, संकल्पसे बनाये हैं। हम जो भावना करते हैं, वह ठोस नहीं होती। पर ईश्वरमें जो भावना होती है, वह ठोस बन जाती है। उसमें दूसरा कोई उपादान नहीं लगता। कवि कहता है :

निरुपादानसंरम्भं अभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

'बिना उपादानके, बिना करणके, बिना भित्ति-आधारके ही जिसने इस जगत्-रूपी चित्रको बना दिया है, उस प्रशंसनीय कलाकार त्रिशूलधारीको नमस्कार है।'

शून्य भित्तिपर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे। यह कलाकार नहीं, जादूगर है।

भूतानि भावयति इति भूतभावनः। धर्मात्मा कहते हैं: 'भगवान् भूतभावन हैं।' अनादि कालसे जीव संसारमें रहते हैं। कभी डूबते, कभी उतराते हैं। प्रलयकालमें जीवोंको उपाधि अपनेमें संस्कारसे युक्त सो रही थी। सृष्टिकालमें उन्हें ईश्वरने भावित किया—जगा दिया, कर्मानुसार शरीर दिया। इसलिए वह 'भूत-भावन' है।

एक तान्त्रिक श्मशान साध रहा था। नदी तटपर गया। एक मुर्दा लेकर उसकी छातीपर बैठकर मन्त्र जपने लगा। मुर्देमें प्राण आया। उसका मुख खुलता तो वह उसमें लोहेके चने डाल देता। थोड़ी देरमें श्मशानेश्वर प्रकट हुए। हजारों भूत-प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी प्रकट हो गयीं। यह श्मशान जगाना है। कहीं उनमें विवाह हो रहा है, कहीं कोई मर गया है—रुदन हो रहा है। मन्त्रजप बन्द कर दिया तो सब लुप्त हो गया!

यह विश्वसृष्टि भी शिवका महाश्मशान ही जाग रहा है। इसमें ईश्वर भूतभावन हैं। जैसे श्मशानमें न होनेपर भी हजारों भूत जाग जाते हैं, वैसे ही ईश्वर ये भूत जगा रहा है। भूत-

भावनका अर्थ है संसारका पिता ब्रह्मा, विश्वात्मा, विराट् और हिरण्यगर्भ।

भूतभावन : भगवान् जगत्के अभिन्न-निमित्तोपादन कारण हैं। इसका उदाहरण भौतिक पदार्थोंमें नहीं मिलता; क्योंकि भौतिक पदार्थ जड़ हैं। वे उपादानकारण बन सकते हैं, लेकिन निमित्त-कारण नहीं। मिट्टी कुम्हार नहीं बन सकती और न कुम्हार मिट्टी ही बन सकता है। कुम्हार, मिट्टी, घड़ा पृथक्-पृथक् हैं; पर भगवान् सृष्टि बनाते हैं तो उसमें स्वयं ही बनानेवाले और बनाये जानेवाले भी होते हैं।

भागवतमें उदाहरण हैं। ब्रह्माजीने बछड़े चुरा लिये, क्योंकि वे श्रीकृष्णकी ओर पीठ करके वनमें घास चरने चले गये। ग्वाल-बाल भोजनमें लगे तो श्रीकृष्ण उठकर उनसे दूर हो गये, अतः उन्हें भी ब्रह्माने चुरा लिया। श्रीकृष्ण अकेले रह गये, तब स्वयं सहस्रों बछड़े, उनके गलेकी रस्सियाँ, घण्टियाँ, सहस्रों ग्वाल-बाल, उनके वस्त्र, उनके आभूषण, छीके, भोजन, घड़ियाँ, सींग, वंशी आदि सब बन गये। वहाँ जीव कोई नहीं, जड़ उपादान कोई नहीं, पूर्वजन्म कोई नहीं, कर्मसंस्कार कोई नहीं, माँ-बाप नहीं, अन्तःकरण नहीं। काल नहीं लगा—उत्पन्न होकर पाँच-सात वर्षकी आयुके होनेमें। श्रीकृष्णने अपनेको सब रूपोंमें प्रकट कर दिया। यही 'भूतभावनत्व' है।

तब क्या सचमुच चैतन्य कृष्ण नाना रूपोंमें बने? जो बनता है वह चैतन्य नहीं होता। जो चैतन्य है, वह बनता नहीं। चैतन्य सदा साक्षी होता है—बनने और बनानेवाले सबको देखता है। चैतन्यमें तो बनना है ही नहीं। वहाँ कोई दूसरी वस्तु थी नहीं।

अतः एक चैतन्य ही बिना बने-बनाये नाना रूपोंमें स्फुरित हो गया, स्फुरित हो रहा है। यह ब्राह्मी स्फूर्ति है।

उन सब बछड़ों, ग्वाल-बालकोंको लेकर श्रीकृष्ण नन्दगाँव लौटे, यह हुआ भूतेशत्व। बछड़ोंमें कौन-कौन और बालकोंमें कौन-कौन किस-किस घरमें जाय—यह व्यवस्था की।

ब्रह्माने लौटकर देखा तो सब बछड़े, सब ग्वाल-बाल सब कृष्ण हैं। सबके साथ ब्रह्मा उनकी स्तुति करते हैं। यह 'जगत्पते, देवदेव' रूप हुआ श्रीकृष्णका।

'भूतेश' अर्थात् भूतोंका स्वामी—सबका नियामक शिव। 'भूतभावन' का अर्थ है सन्तति उत्पन्न करनेवाला पिता। किन्तु वह ऐसा पिता नहीं जिसकी सन्तान मनमानी करे। वह भूतेश है—सबको नियन्त्रणमें रखता है। अन्तर्यामी और नियन्ता है : एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः। व्यष्टिमें वह प्राज्ञ है तो समष्टिमें है ईश्वर।

देवदेव : वही एकमात्र आराध्य है। सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं मनका आराध्य हिरण्यगर्भ।

देवताओंके भी देवता विष्णु—तैजस, सूत्रात्मा।

विद्वांसो हि देवाः (श्रुति)—निश्चय ही विद्वान् देवता हैं, यह आधिभौतिक दृष्टि है। पति देवता है, पिता देवता है, माता देवता है, आचार्य देवता है, अतिथि देवता है :

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथि-देवो भव। भूरसि, भूमिरसि।

इस प्रकार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, अन्न, मन आदि सबको श्रुतिने ब्रह्म कहा है: त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, मनो ब्रह्मेत्युपासीत, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म।

इन सब देवताओंका देवता वह परमात्मा है, जो इनके भीतर बैठा इन्हें प्रकाशित करता है।

सूर्यो देवता वातो देवता अग्निर्देवता—सूर्यके सूर्यत्वमें, वायुके वायुत्वमें, अग्निके अग्नित्वमें जो अधिष्ठानसत्ताके रूपमें विराजमान और स्वयंप्रकाश है, वह 'देवदेव' है। यह आधिदैविक रूपसे देवताका विचार है।

अब आध्यात्मिक रूपसे देवसत्ताका विचार करें। नाकमें देवता अश्विनीकुमार, रसनामें वरुण, बोलनेवाली वाणीमें अग्नि, नेत्रमें सूर्य, कर्णमें दिक्, त्वचामें वायु, हाथोंमें इन्द्र, पैरोंमें विष्णु, मनमें चन्द्र, गुदामें निऋति, उपस्थमें प्रजापति, अहंकारमें रुद्र—ये आपके शरीरमें देवता रहते हैं। इन सबको शक्ति किससे मिलती है? तुम्हारे हृदयमें सम्पूर्ण देवताओंका देवता निवास करता है। यह वासुदेव हमारी समस्त इन्द्रियों, सम्पूर्ण संकल्पों और सब प्राणोंका स्वामी है, जो हृदयमें बैठा है।

जगत्पते: सूत्रात्मा-ईश्वर। 'पाति इति पतिः'—सबका पालन भी वही करता है।

भक्त कहते हैं: 'श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं। श्रीकृष्ण ही ईश्वर हैं। कृष्ण ही ब्रह्म हैं':

कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।

'श्रीकृष्णसे परे किसी तत्त्वको हम नहीं जानते। वह सबके हृदयमें अलग-अलग बैठा है, यही उसका नटवर रूप है।'

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनं देवा आप्नुवत् पूर्वमर्षत्।
—ईशावास्योपनिषद्

नेत्र, कर्ण, हाथ-पैर आदिके उत्पन्न होनेसे पूर्व वह विद्यमान था। ये देवता, ये इन्द्रियाँ उसे स्पर्श नहीं कर सकतीं। ये जहाँ-जहाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध लेने संसारमें जाती हैं, जहाँ रहती हैं, वहाँ वह पहलेसे ही उपस्थित है। जहाँ इनकी उपस्थिति और भेद नहीं, वहाँ भी वह बैठा है। है एक, पर दीखता है अनेक। इसीका नाम 'नट' है।

जथा अनेकन भेष धरि, नृत्य करै नट कोय।
सोइ सोइ भाव दिखावइ, आपुन होय न सोय॥

जगत्पते : गच्छतीति जगत्—जो चलता रहता है, उसे जगत् कहते हैं। जगत्के मूलमें परमाणु मानें तो वे भी चल हैं हैं और शक्ति मानें तो वह भी चल है। जगत्का मूल प्रकृति मानें तो वह भी परिणामिनी है। जगत् एक नहीं, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं और उन सबके स्वामी ये कृष्ण हैं।

जगत्+जगत्+जगत्=स्थूल जगत्+सूक्ष्म जगत्+कारण जगत्=जगत्—इन तीनों जगतोंका स्वामी, सबको सत्तास्फूर्ति देनेवाले वही है, जो अर्जुनके रथपर सारथि बना बैठा है।

जीव कौन है? जो एक स्थूलशरीरको 'मैं' जाने, माने। श्रीकृष्ण एक शरीरको 'मैं' नहीं मानते। वनवासके समय दुर्वासाके अतिथि बनकर आनेपर द्रौपदीने कहा : 'आज महाक्रोधी दुर्वासा

मुनि दस हजार शिष्योंके साथ भोजन करने आये हैं और हमारे पास एक कण भी अन्न नहीं है। आज ये शाप देकर पाण्डवकुलका नाश कर देंगे।' श्रीकृष्ण बोले : 'इस समस्यापर बादमें विचार करेंगे; किन्तु मैं द्वारिकासे चलकर आया हूँ, भूखा हूँ, पहले कुछ खिला दो। वे अतिथि तो अभी देरसे आयेंगे और यह अतिथि अभी भूखा खड़ा है।'

द्रौपदी : 'कुछ है ही नहीं।'

कृष्ण : 'अच्छा, अपना बर्तन लाओ।'

बर्तन आया, उसमें शाकका एक पत्ता चिपका मिला। कृष्णने संकल्प किया—अनेन विश्वात्मा तृप्यताम् और उसे मुखमें डाला। 'मैं विश्वात्मा हूँ' यह कृष्ण जानते हैं। अपनेमें उन्होंने धृतराष्ट्र तथा अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया। ●

१४. विभूति-योगका प्रश्न

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥
—१०.१६–१८

अर्जुन कहता है : 'भगवन् ! आपको अपनी उन विभूतियोंका वर्णन चाहिए, जिनके द्वारा आप इन लोकोंमें व्याप्त होकर स्थित हैं । योगेश्वर ! सदा चिन्तन करते हुए मैं आपको कैसे जानूं ? भगवन् ! मुझे किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करना चाहिए ? जनार्दन ! अपना योग और विभूतियां पुनः विस्तारसे सुनाइये । मुझे इस अमृतको सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है ।'

अर्जुन अपने साधन और साध्यके ज्ञानमें थोड़ेमें सन्तुष्ट होनेवाले नहीं हैं । यह विषय अधिकसे अधिक जानने योग्य है । भक्ति और वेदान्त दोनोंमें ही श्रवण मुख्य साधन है। कोई श्रवणमें शिथिल पड़ता है तो कहना होगा कि उसकी आध्यात्मिक जिज्ञासा शिथिल हो रही है, क्योंकि किसी भी वासना-वासित इन्द्रिय, मन या बुद्धिसे वह स्वयं परमात्माका ज्ञान नहीं पा सकता ।

जब हम अन्तर्मुख होने लगते हैं तो हमारी वृत्तियां मुड़ती हैं, लेकिन वृत्तियोंके इस मुड़नेसे ही यथार्थ वस्तुका दर्शन नहीं होता। वृत्तियोंके इस मोड़से अपने भीतर साधक दिव्य गन्ध, नाना रूप, नाना रस और दिव्य शब्दादिका अनुभव करता है। यह वृत्तियोंका ही रूप है। यदि सत्यके साक्षात्कारमें सच्ची जिज्ञासा हो, तो ये सब जाल मिट जाते हैं। ये सब मनके ही जाल हैं।

कर्मद्वारा कर्मकी वासना मिटाओ, वह भोगप्राप्तिके लिए नहीं है। कर्म वासना मिटानेके लिए है। भक्ति विचित्र अनुभवके लिए नहीं, भक्तिद्वारा हृदयको शुद्ध करो। चित्तकी भोगवासना मिटानेके लिए भक्ति है। चित्तकी चञ्चलता मिटानेके लिए योग हैं, सिद्धि पानेके लिए नहीं। अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिए सच्ची लगन होनी चाहिए। वृत्तियोंके वक्रीभावसे होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके दिव्य अनुभव और समाधिमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसे ही साधकके सामने परमात्माका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। इसी कारण भगवान्‌की विभूतियां और योग सुननेमें अर्जुन का इतना आग्रह है।

वक्तुमर्हसि : आपकी विभूतियां असाधारण हैं—अप्राकृत हैं, दिव्य हैं; अतः आपके अतिरिक्त दूसरा कोई उनका वर्णन नहीं कर सकता। जिन विभूतियोंद्वारा आप इन सब लोकोंमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उनका सम्पूर्ण वर्णन आपको ही करना चाहिए।

भूयः कथय : यह ठीक है कि इनका वर्णन आपने कर दिया, पर यह तो अमृत है। इससे अपच नहीं होता, तृप्ति नहीं होती। पेट छोटा है, वह भर जाय तो तृप्ति हो जाती है। किन्तु कान तो आकाश हैं, वे भरते नहीं। एक वस्तु ही भोजनको बार-

बार मिले तो भी उससे तृप्ति हो जाती है। किन्तु भगवद्ज्ञान तो नित्य-नूतन है। जिससे प्रेम होता है, वह भी नित्य नया मालूम पड़ता है।

वस्तुमें दोष हो कि यह आगे हानि करेगी, तब भी उससे मन हट जाता है। किन्तु यह वस्तु तो निर्दोष है, मन-बुद्धिकी पोषक है। इन्द्रियों द्वारा भीतर जो मल रोज-रोज पहुँचता है, उसे धो देती है।

अशेषेण : पूरी-पूरी सुनाओ, कुछ छिपाओ मत!

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।

इसपर विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीका विचित्र है।

"भगवान्‌ने कहा : 'मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। तुमसे सच कहता हूँ।'

अर्जुन : 'क्या पता, तुम्हारी बात सच हो या न हो?'

भगवान् : 'प्रतिजाने' प्रतिज्ञा करता हूँ।'

अर्जुन : 'तुम्हारी प्रतिज्ञाका भी क्या भरोसा?'

भगवान् : 'प्रियोऽसि मे', तुम मुझे प्रिय हो, तुमसे झूठ नहीं कहूँगा।'

यहाँ भी अर्जुनका भाव है कि 'तुम्हें छिपानेकी आदत पड़ी है। फिर भी अब कुछ मत छिपाओ।"

दिव्य : तात्पर्य यह कि ये परमात्मातक पहुँचनेके साधन सोपान तो हैं; किन्तु नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदोंसे शून्य, प्रत्यक्चैतन्या-

भिन्न ब्रह्म नहीं हैं। दिव्यका तात्पर्य है अनिर्वचनीय परमार्थ-तत्त्वके ज्ञानमें ये विभूतियाँ सहायक अवश्य हैं, किन्तु ज्ञान हो जानेपर ये अपनेसे पृथक् नहीं रहेंगी।

श्रीकृष्णका सब कुछ दिव्य है। उन्होंने कहा : जन्म कर्म च मे दिव्यम्। श्रीकृष्णका जन्म जीवोंके समान प्रारब्धकर्मानुसार नहीं होता। उनके कर्मोंसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती। वे जन्मके भोक्ता नहीं और जो कर्म कर रहे हैं, उसके कर्ता भी नहीं। कर्मके फलस्वरूप वे सुखी या दुःखी भी नहीं होते।

उनकी विभूतियाँ भी दिव्य हैं। राजाको वैभव उसके पूर्वकर्म या वर्तमान उद्योगसे प्राप्त हुआ करता है, अतः वह उसका कर्ता है। वैभवका उसे अभिमान है, अतः वह भोक्ता है। वैभवकी अच्छाई-बुराईके कारण वह पापी-पुण्यात्मा है, उससे उसे सुख-दुःख होता है। किन्तु श्रीकृष्णका वैभव न प्रारब्धजन्य है, न वर्तमानके उद्योगसे जन्य और न आगेके जन्मका हेतु ही है। अतएव दिव्य है।

जीवकी दृष्टिसे संसारके वैभवका ध्यान रागका कारण है। उसमें रागसे वासना और वासनासे आसक्तिजन्य बन्धन होगा। लेकिन श्रीकृष्णके वैभवका ध्यान करनेपर राग-द्वेष, वासना या बन्धन नहीं होते। उलटे उसके ध्यानसे संसारके वैभवोंसे वैराग्य हो जाता है। श्रीकृष्णके वैभवपर दृष्टि जाती है तो संसारका बड़ेसे बड़ा वैभव अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ता जाता है। वह संसारके वैभवका अभिमान एवं उसमें रागको मिटानेका उपाय है। वह सांसारिक वैभवसे वैराग्य कराकर श्रीकृष्णसे राग करता है, अतः वह दिव्य है।

एकबार मैं वृन्दावनमें था। किसी बातसे चित्त दुःखी हो गया। सोचा—चलो, वृन्दावन छोड़ दें। यहाँ कभी नहीं आयेंगे।' कमण्डलु उठाकर चल पड़ा। वृन्दावनसे बाहर निकलने लगा तो सीमाके पास एक नालेपर पुल पड़ता था। वहाँ चारों ओर वृक्ष हैं। उनपर दृष्टि गयी तो उनके पत्ते, डालियाँ सब सुनहली दीखीं। डाल-पत्ते हिल रहे थे। लगा कि वे मुझे बुला रहे हैं! मैं लौट आया।

एकबार रमण-रेतीमें सो रहा था। उस समयतक श्री उड़िया बाबाजी महाराजका आश्रम बना नहीं था। चार बजे एक साधुने उठाया : 'चलो, तुम्हें वृन्दावनकी झाँकी दिखायें।'

उन महात्माके साथ छटोकराकी ओर चला। सफेद-सफेद हजारों गायें चरती दीखीं। महात्मा बोले : 'देखते हो ?'

मैं : 'हाँ'

महात्मा : 'ये हजारों गायें हैं, इनका कोई चरवाहा दीखता है ?'

मैं : 'नहीं।'

वे गायें जंगली थीं। महात्माने कहा : 'यही वृन्दावनकी झाँकी है। ये श्रीकृष्णकी गायें हैं।'

आत्मविभूतयः—विभूति = विविध भूति। भूति = होना। भगवान्‌का विविध रूपोंमें प्राकट्य ही उनका वैभव है। आगे ७३ विभूतियोंका भगवान्‌ने वर्णन किया है।

भगवान्‌का ही मायाके रूपमें प्रकट होना, मायामें देश-काल-वस्तुका प्रकट होना, वस्तुमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका प्रकट होना और फिर उनमें कोटि-कोटि ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूपमें भगवान्‌का हो

जाना, उनमें कोटि-कोटि स्वर्ग, नरक, मर्त्यलोक बनना—यह सब भगवान्‌का वैभव है।

योग है, विविधतामें एकता देखना तो एकतामें अनेकताको देखना है, विभूति। विभूति विज्ञान है तो अनेकतामें एकताको देखना है योग, ज्ञान।

अध्यायके प्रारम्भमें विभूति और योग दोनोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा-की गयी थी और उस वर्णनके अन्तमें उसका माहात्म्य बत-लाया था :

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

इस प्रकार दो विभागमें ही वर्णन करते गये। अब यहाँ 'दिव्या ह्यात्मविभूतयः' का प्रश्न है, तब एक बात सहज ही स्मरण हो आती है : एक 'असम्भूति' है, एक 'सम्भूति' तो यह 'विभूति'।

ईशावास्योपनिषद्‌में 'सम्भूति' और 'असम्भूति' दोनोंका निरूपण आता है। कारणावस्थाको 'असम्भूति' कहते हैं; जैसे समाधि लगाकर चित्तकी निरोध-दशामें अवस्थान। संसार दीखता रहे, यह परमात्माका कार्यरूप 'सम्भूति' है। संसारमें कोई कारण-ब्रह्मकी उपासना करते हैं, तो कोई कार्य-ब्रह्मकी ही, पर दोनों ब्रह्मज्ञान नहीं हैं। ब्रह्मज्ञानमें कार्य-कारण दोनों बाधित हो जाते हैं। तब न तो समाधि लगाकर ध्यान करना आवश्यक होता है, न कार्य-ब्रह्म-की सेवा करना। उपनिषद्‌में इनमेंसे एक-एककी निन्दा की गयी है; क्योंकि समाधि लगानेवाला समाधिमें ब्रह्म मानता है, विक्षेपमें नहीं। जिसने भजन-ध्यान छोड़ दिया, केवल व्यवहारमें लगा है, उसने कारण-ब्रह्मको छोड़ दिया।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

जो कार्य-ब्रह्मकी उपासना-सेवा करता है और कारण-ब्रह्मकी उपासना-ध्यानादि भी करता है, निरोध-विक्षेप दोनोंमें परमात्माको देखता है, वह कार्य-ब्रह्मकी उपासनासे मृत्युको तर जाता है और कारण-ब्रह्मकी उपासनासे अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है। अतः मनुष्यको कभी एकांगी नहीं होना चाहिए।

अब 'विभूति' क्या है? असम्भूति कारणावस्था है, तो सम्भूति कार्यावस्था। इसमें कार्यावस्थापन्न जगद्रूप ब्रह्ममें चींटी भी ब्रह्म, ब्रह्मा भी ब्रह्म। इन सबमें समतासे सम्भूतिकी—कार्य-ब्रह्मकी उपासना बहुत कठिन है। इसे सुगम बनानेके लिए 'विभूति'की आवश्यकता होती है। समूचे कार्य-ब्रह्मको नहीं, उसमें विशिष्ट ब्रह्मके रूपको पहले जानो, तब समूचे कार्य-जगत्को ब्रह्म-रूप जान सकोगे।

सब मनुष्योंमें ईश्वरकी भावनासे पूर्व पति, पिता, माता, गुरु, अतिथिमें तो ईश्वरकी भावना कर लो। यह विशेषकी उपासना विभूतिकी उपासना है। इससे सम्भूतिका ठीक-ठीक ज्ञान होता है। तत्त्वतः राख भी ईश्वर है और अग्नि भी; किन्तु हवन अग्निमें होगा, राखमें नहीं। उपासनामें विभूतिकी विशेषता होती है।

श्री रामानुजाचार्यने 'आत्मविभूतयः' का अर्थ किया है: त्वदसाधारण्यो विभूतयः। तुम्हारी जो असाधारण विभूतियां हैं। अर्थात् सारी सृष्टि तो तुम्हारा साधारण रूप है। अब असाधारण विभूतियाँ बतलाओ। जैसे साधु बहुत हैं, वेशका आदर करके सबको हाथ जोड़ लिया। अब उनमें जो त्यागी, भक्त, ज्ञानी हैं

वे सन्त हैं। उन सन्तोंमें भी एक चुन लिया, तो वह गुरु है। पत्थर बहुत-से हैं, उनसे शालग्राम पृथक् हैं। उनमें से भी चुनकर एक घर ले आये, तो वे अपने उपास्यरूप बन गये।

'असम्भूति' रूपमें तो पञ्चभूत ही नहीं हैं, प्रकृति है। 'सम्भूति'-रूपसे सारे पाषाण भगवान्के स्वरूप हैं। 'विभूति' रूपसे शालग्राम ही उपास्य हैं।

तत्त्वदृष्टिसे सब ब्रह्म होनेपर भी अपनी आराध्य मूर्ति और सामान्य दृष्टिसे सब ब्रह्म होनेपर भी अपना गुरु सामान्य पत्थर सर्वसामान्य मनुष्य नहीं हैं। ये आराधना करनेके लिए हैं। अतः आत्मविभूतिका अर्थ है, जिसमें हमारे लिए परमात्माकी विशेष शक्ति प्रकट है।

उपासनाके लिए विभूति आवश्यक है। सब नाम भगवान्के कह दोगे तो जप छूट जायगा। उपासनाके लिए एक विशेष नामकी तुम्हें नितान्त आवश्यकता है।

यहाँ तीन सिद्धान्त हैं: १. विभूतिसे उपासना होती है। जो कुछ प्रसन्न होकर दे सके और अप्रसन्न होकर बिगाड़ सके, उसीकी उपासना होती है। २. सम्भूतिसे कर्म-योग होता है। अपने सब कर्मोंसे परमात्माकी सेवा करनी चाहिए। ३. समाधियोगका आश्रय है असम्भूति। असम्भूति, सम्भूति, विभूति—तीनोंमें जो अधिष्ठान एवं प्रकाशक रूपसे अनुगत एवं तीनोंसे न्यारा है, तीनों जिसमें बाधित हैं, वह ब्रह्म है।

असम्भूति सुषुप्तिवत् है, सम्भूति जाग्रद्वत् है तो विभूति स्वप्नवत् है। तीनोंका द्रष्टा, साक्षी, अधिष्ठान, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न और अद्वितीय, स्वयंप्रकाश ब्रह्म है।

याभिर्विभूतिभिर्लोकान् : इन विभूतियोंद्वारा भगवान् इन लोकोंमें व्याप्त होकर रहते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी है, इसका पता कैसे चलेगा, इसमें ये विभूतियाँ साधक हैं।

एक कोयला है और एक शीशा। कोयलेपर सूर्यकी किरणें पड़ीं तो उसीमें मिल गयीं। शीशेपर पड़ीं तो लौटीं और दूसरी वस्तुको प्रकाशित करने लगीं। इसका कारण है कि कोयलेमें चमक नहीं है और शीशेमें चमक है। खेतमें बीज उगता है, पर ऊसरमें बीज डालो तो बीज भी सड़ जाय। यह पृथ्वीमें अन्तर है। कुँएका जल रखो तो सड़ेगा, पर गङ्गाजल रखो तो निर्मल रहेगा। इसका अर्थ है कि शीशा, खेतकी मिट्टी और गङ्गाजल विभूति हैं।

ज्योत्स्नावत्यः कचिद् भुवः।

एक उपनिषद्‌वाक्यको कोई समझता ही नहीं और कोई उसमें परमात्माको देखता है। बुद्धियोंका यही अन्तर बतलाता है कि जो निरतिशय ज्ञानवान् है, वह सर्वज्ञ है। शक्तियोंका अन्तर बतलाता है कि जो निरतिशय शक्तिमान् है, वह सर्वशक्तिमान् है। इस प्रकार इन विभूतियों द्वारा सामान्य-विशेषकी सिद्धि होती है। इस सामान्य-विशेषकी सिद्धिसे ईश्वरकी सिद्धि होती है। ईश्वरके ज्ञानसे आत्मज्ञान होता है।

'याभिर्विभूतिभिर्लोकान्'—जो इन्द्रियोंके आलोकमें दीखें, वे लोक हैं—'लोक्यन्ते इति लोकाः'। इन सब लोकोंमें भगवान् अपनी विभूतियोंके रूपमें विराजमान हैं।

जीव अनादि कालसे संसारमें फँसा हुआ है। उसे अपनी ओर खींचनेके लिए भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपनी विभूतियाँ प्रकट की

हैं। जीव भगवद्-विमुख हो रहे हैं, पर भगवान् उनसे मिलनेको दोनों हाथ फैलाये खड़े हैं। तुम्हारे नेत्रोंको वे अपनी ओर खींचना चाहते हैं। इसीलिए स्थान-स्थानपर विभूतिरूपमें स्थित हैं। वे कहते हैं: हम तुम्हारे नेत्रोंको दर्शन देंगे—तेजश्चास्मि विभावसौ। तुम्हारी नाकको दर्शन देंगे: पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च। तुम्हारी रसनाको दर्शन देंगे: रसोऽहमप्सु।

सूर्य-चन्द्रमें वे प्रभारूप हैं, वायुमें स्पर्श हैं, आकाशमें शब्द हैं। इस प्रकार अपनी विभूतियोंद्वारा वे प्रतिक्षण तुममें प्रवेश करते हैं, जब कि तुम उनसे भागना चाहते हो।

त्वां सदा परिचिन्तयन्: अर्जुन कहते हैं कि मैं दिन-रात चारों ओर तुम्हें ही देखना चाहता हूँ। सदा=सब समय। परि=सर्वत्र, त्वामेव चिन्तयन्=तुम्हारे ही चिन्तनमें लगा रहूँ।

त्वां कथं विद्याम्—ऐसे तुम्हें कैसे जानूँ?

योगिनः—योग=मिलन। भगवान् 'योगिन्' हैं अर्थात् उनका नित्य मिलन है। ऐसा कोई है ही नहीं, जिसके हृदयमें भगवान् न न हों। कोई चाहे तो भी उसके लिए भगवान्को छोड़ देना सम्भव नहीं। यह नित्ययोग है। सोते-जागते, चलते-बैठते सब समय ईश्वर हमारे भीतर विद्यमान है।

एक योगी होता है, तो एक योगेश्वर। गीतामें श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' भी कहा है।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम्।

योगी स्वयंमें योग रखता है तो योगेश्वर दूसरेको भी योग दे

सकता है। श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं अर्थात् उनके संकल्पसे दूसरेके हृदयमें योगका संचार हो सकता है। वे जिसे चाहें, उसे योगी बना सकते हैं।

केषु केषु च भावेषु : प्रभो ! किन-किन वस्तुओंमें मुझे तुम्हारा चिन्तन करना चाहिए ?

अपने मनमें ही जो बात गलत लगे, उसमें भगवान्का चिन्तन कैसे करेंगे ? या तो यह लगे कि यह अखण्ड सत्ता है, अखण्ड ज्ञान है, अखण्ड आनन्द है, तब उसमें ईश्वरका चिन्तन हो सकता है। जहां सत्ता, ज्ञान या आनन्दकी अखण्डता ज्ञात नहीं होती, वहां ईश्वरका चिन्तन कैसे करेंगे ? प्राण-प्रतिष्ठा करके चिन्तन करेंगे। शास्त्रकी विधिसे, मन्त्रसे, भावसे, खण्डमें अखण्डकी प्रतिष्ठाकर उसका चिन्तन करेंगे, जैसे कि आप सामने अपने गुरुजीको देखते हैं, साढ़े तीन हाथके शरीरवाला देखनेपर भी कहते हैं :

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

शालग्राममें चतुर्भुज नारायणको देखते हैं। ये वस्तुएं परमात्माके स्मरणमें केवल निमित्त हैं। अर्जुन पूछते हैं कि ऐसे किन-किन भावों, पदार्थोंमें मैं आपका चिन्तन करूं ?

एक प्रतीकोपासना होती है। यह भगवान्का विराट् रूप प्रतीक है; किन्तु पूरे विराट्का तो ध्यान भी सम्भव नहीं। अतः शालग्राम-मूर्ति रख ली। जो अण्डाकार ब्रह्माण्डमें है, वही अण्डाकार शालग्राममें है।

एक प्रतिरूपोपासना होती है। श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव या शक्तिका चित्र या मूर्ति बनायी और मान लिया कि ये ईश्वर हैं। इस प्रकार ब्रह्मबुद्धिसे मूर्ति या चित्रमें बैठे भगवान्‌की उपासना! यह ऐसा है जैसे गुरुजीका पैर दबाया तो गुरुजीकी पूरी सेवा हो गयी।

प्रतीकोपासना द्रव्यात्मक होती है, जब कि प्रतिरूपोपासना रेखात्मक, भावस्थ ब्रह्मद्वारा भावातीतका चिन्तन किया जाता है।

एक निदानोपासना है, जो अक्षरात्मक होती है। जैसे प्रणवके अक्षरोंमें विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीयका चिन्तन। निदानोपासनामें 'अहं ब्रह्म' यह उपासना है और 'त्वं ब्रह्म' यह भी उपासना।

उपासनाके ऐसे अनेक भेद हैं। उपासना तर्कसे नहीं, श्रद्धासे होती है। वह उपासना-कर्ताके अन्तःकरणका निर्माण करनेके लिए होती है। दुष्कर्मकी निवृत्ति धर्मका आश्रय लिये बिना नहीं होती। विक्षेपकी निवृत्ति योगका आश्रय लिये विना होती। ये दुष्कर्म दुर्वासना, विक्षेप बार-बार आते रहते हैं; पर जब वे धर्म, उपासना, योगसे क्षीण हो जाते हैं, तब तत्त्वज्ञान उन्हें बाधित कर देता है।

जनार्दन : 'जनान् दुष्टजनान् अर्दयति'—जो राक्षसों, अधर्मियोंको नष्ट कर देता है, उसे 'जनार्दन' कहते हैं।

जनयति जगदिति जना माया, तान् अर्दयतीति जनार्दनः। —जो जगत्‌को उत्पन्न करती है, उस मायाको 'जना' कहते हैं। जो उस मायाको नष्ट करे, वह 'जनार्दन' है।

जनान् स्वजनान् अर्दयति = स्वजननिष्ठुरः।—जो भक्तकी वासनाको निष्ठुर होकर दबा दे, उसे कष्ट देकर, निर्धन बनाकर

भी शुद्ध करे,—अपने समीप लानेयोग्य बनाये, उसे 'जनार्दन' कहते हैं।

विस्तरेण : श्रोता जब संक्षेपमें कहनेको कहता है तब उसको सुननेमें रुचि नहीं होती अथवा उसे अवकाश नहीं होता। अर्जुन कहते हैं : 'विस्तारसे कहो।' 'भूयः कथय'—'फिरसे कहो। भले ही बात वही हो, पर फिरसे कहो। मुझे वह प्रिय लगती है। मुझे उससे तृप्ति नहीं हुई।'

परीक्षित्‌ने शुकदेवजीसे कहा :

नैषाऽतिदुस्सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥

'भूख-प्यास असह्य होती है, यह मैं जानता हूँ। प्याससे व्याकुल होकर मैंने एक समाधिस्थ महात्माके गलेमें मरा सर्प डाल दिया था। किन्तु इस समय निर्जल रहनेपर भी यह असह्य भूख-प्यास मुझे कोई पीड़ा नहीं दे रही है; क्योंकि आपके चन्द्रमुखसे झरते हरिकथारूप अमृतको मैं पी रहा हूँ।'

अमृतं शृण्वतः—तुम्हारा वचन अमृत है। यह पीनेवालेको अमृत बना देता है। इसमें तीनों लोक यदि एक साथ स्नान करें तो उनके हृदयके भी मल धुल जायँ, पच जायँ।

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।

त्रिलोकीनाथ! आपका कथामृत अखिल लोकका मल दूर करनेवाला है। उसमें स्नान करके बुद्धिमान् अपने ताप दूर कर देते हैं। यह स्नानका वर्णन है। तैरनेका भी वर्णन है :

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरित-महामृताब्धिपरिवर्त-परिश्रमणाः ।

इस प्रकार अर्जुन श्रवणके अधिकारी सिद्ध हो गये। वे विस्तारसे सुनना चाहते हैं, दुबारा सुनना चाहते हैं। इसे सुननेमें उन्हें तृप्ति नहीं है। इसके सुननेका माहात्म्य बहुत है :

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

—११.१

'मुझपर कृपा करनेके लिए आपने जो इस परमगुह्य अध्यात्म-वाणीका उपदेश किया, उससे मेरा मोह दूर हो गया।'—यह दसवें अध्यायके सुननेका माहात्म्य अर्जुनने कहा है।

अनुग्रह=पकड़ेको पकड़ना। ग्रह=पकड़ना। भक्तने भगवान्‌के चरणको पकड़ा और भगवान्‌ने भक्तका हाथ पकड़ लिया। अर्जुन कहता है। 'इसका फल यह हुआ कि मेरा मोह दूर हो गया।'

संसारमें जहाँ-जहाँ दुःख है, वहाँ-वहाँ मोह है। मोह ही दुःखका मूल है। दसवाँ अध्याय सुनकर अर्जुनका मोह दूर हो गया। ●

१५. अहमात्मा गुडाकेश !

श्रीभगवानुवाच
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
—१०.१९-२०

श्री भगवान्ने कहा : 'कुरुश्रेष्ठ ! मैं अपनी प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियाँ तुम्हें बतलाता हूँ ; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है । गुडाकेश, मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा हूँ । प्राणियोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं हूँ ।

श्रीभगवानुवाच : श्रीभगवान्का वचन नित्य होता है । अर्जुनरूप जिज्ञासु उत्पन्न होनेपर ही वह वचन प्रकट होता है । यथापूर्वमकल्पयत्—जैसी पूर्वकल्पकी सृष्टि थी, नवीन सृष्टि भी वैसी ही बनती है । अर्थात् सृष्टि प्रवाहरूपसे नित्य है । किसीका अन्तःकरण अर्जुनाकार हो जाय तो निश्चय ही उसमें गीता सुनायी पड़ेगी ।

हन्त ते कथयिष्यामि : इसमें 'हन्त' वाक्यारम्भका सम्बोधन है, अर्थात् 'हे' ।

दिव्या ह्यात्मविभूतयः—भगवान्के चिदाभास स्वरूपमें जो प्राकृत या अप्राकृत विभूतियाँ प्रकट होती हैं, सभी दिव्य हैं । भगवान्की

विभूति मर्त्यलोकमें हैं, स्वर्गमें भी। भगवान्‌का चराचर सृष्टिके रूपमें प्रकट होना उनकी विभूति है। जो है, जहाँ है, जैसा है—सब ईश्वर है। सब दिव्य है। सबमें ईश्वरको पहचानो।

कुरुश्रेष्ठ : तुम कुरुवंशमें श्रेष्ठ हो।

प्राधान्यतः—अर्जुन तो कहते हैं कि 'विस्तरेण' और 'अशेषेण' वर्णन करो। अर्जुनमें आकांक्षा है। उन्हें युद्धकी चिन्ता ही नहीं। भले ही दोनों दल ऐसे ही खड़े रहें, फिर भी वे तो विभूति ही सुनना चाहते हैं।

नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे : भगवान् कहते हैं कि विस्तारसे सुनाने लगें तो युगोंतक भी यह विभूति-वर्णन पूरा नहीं होगा। यह विषय समाप्त होनेवाला नहीं। मैं अनन्त हूँ, अतः न तुम्हारी तृप्ति होगी और न विभूतियोंका अन्त। इसलिए प्रधान-प्रधान विभूतियोंका ही वर्णन करता हूँ।

गुडाकेश : गुडाका=निद्रा, उसका ईश=स्वामी अर्थात् निद्राका स्वामी। भगवन्! तुमने निद्राको, निद्रासे उपलक्षित तमोगुणको जीत लिया है।

गुडाकः=शिवः ईशो यस्य : पशुपतिकी आराधना कर रजोगुणपर विजय प्राप्त कर ली है।

अहमात्मा : अर्जुनने पूछा था कि 'हम कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करें?' तो भगवान्‌ने पहले ही कह दिया—'इधर-उधर भटक-भटककर चिन्तन क्यों करना चाहते हो? अपना ही चिन्तन कर देखो। तुम भी मेरी ही विभूति हो।' यह बात न केवल अर्जुनके लिए, बल्कि सबके लिए है कि अपने भीतर अपने आपको ही ढूँढ़ो।

एक मनुष्य एक दिन बेतहाशा भागा जा रहा था। किसीने पूछा : 'कहाँ जा रहे हो ?'

बोला : 'प्रकाश ढूँढ़ने।'

'यह जो तुम्हारे पैरोंके नीचे प्रकाश है और नेत्रोंसे देख-देख पैर रख रहे हो, वह क्या है ?'

बुद्धिका प्रथम जागरण यही है कि अपनेको आत्माके रूपमें ढूँढ़ो, वही परमात्मा है।

भगवान् कहते हैं : 'अर्जुन ! तुम पूछते हो कि कहाँ-कहाँ तेरा ध्यान करूँ ? पर मैं पूछता हूँ कि 'कहाँ मैं तुम्हें नहीं दीखता ? हर स्थानपर तो पहलेसे ही हूँ।'

भगवान् यहाँ पहले आत्माको ही अपनी मुख्य विभूति कहते हैं; क्योंकि आत्माके बिना तो किसीकी सिद्धि ही नहीं होती। जब 'मैं' होऊँगा तभी तो दूसरेका बोध होगा। जो सब सत्ताओंका, जानकारियोंका, सुखोंका मूल है, वही आत्मा है।

उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पनायां मानाभावः।

उपस्थितको छोड़कर अनुपस्थितकी कल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं। परमात्माका चिन्तन करना है तो जो सबसे पहले उपस्थित है, सबका आदि है, उसे छोड़कर अन्यका ग्रहण करनेमें कोई प्रमाण नहीं। क्या अपने आपमें भगवान् नहीं, जो अन्यत्र उसे ढूँढ़ने जा रहे हो ? अतएव ईश्वर-चिन्तनका पहला स्थान आत्मा बतलाया गया।

जैसे सब कणोंमें मिट्टी है, सब बूँदोंमें जल है, सब चिनगारियोंमें अग्नि है, सब श्वासोंमें वायु है, सारा पोलापन आकाश

है, सारे संकल्प मन है, सारे विचार बुद्धि है, वैसे ही सब 'मैं' परमात्मा है।

सर्वभूताशयस्थितः—आशय = शयनस्थान। आ सर्वतः प्रतिनिवृत्य शयनं यत्र—चारों ओरसे लौटकर जहाँ हम सोते हैं, वह आशय है। नेत्रसे बाहर जाते हैं रूप देखने, कानसे शब्द सुनने, त्वचासे छूने, जीभसे रस लेने और नाकसे सूँघने बाहर जाते हैं। नवद्वारे पुरे देही : इन नौ द्वारोंके नगर शरीरके द्वारोंसे हम निकल-निकलकर बाहर जाते हैं। बाहर जाना बन्द करो। जहाँसे निकलकर जाते हो, वहीं पहुँचो। सृष्टिके सब प्राणियोंके हृदयके भीतर 'मैं' आत्मा हूँ। जहाँ इच्छाका उदय तुम्हारे मनमें होता है—'हमें धन, स्त्री, पुत्र, सम्मान मिले', उस इच्छाओंके उद्‌गमको ढूँढ़ो।

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् कहते हैं : अर्जुन! सब प्राणियोंके हृदयप्रदेशमें ईश्वर रहता है और अपनी मायासे वह सबको यन्त्रपर आरूढकी भाँति घुमाता रहता है। हृदय एक मशीन है। उसपर बैठे जीव संसारमें घूम रहे हैं। उस मशीनको चलानेवाली शक्तिको पहचानो।

'मैं कौन हूँ' क्या यह तुम्हें पता है? हाथ-पैर, नाक-कान, सबसे भीतर हो जाओ। श्रीकृष्ण कहते हैं : 'सबके शरीरोंमें आत्मा मैं हूँ। सबका शोधित अहमर्थ 'त्वं'पद लक्ष्यार्थ और 'अहं' 'तत्'पदलक्ष्यार्थ एक ही है। तत्पदलक्ष्यार्थ है अहं—'सर्वभूताशयस्थितः', 'त्वं'पदलक्ष्यार्थ है आत्मा। तत्पदका लक्ष्यार्थ मैं कृष्ण और 'त्वं'पदका लक्ष्यार्थ आत्मा मैं ही हूँ।

अपने कमरेमें सोते हुए प्रियतमका ख्याल नहीं किया और बाहर सड़कपर उसे ढूँढ़ने चले गये—नहि गृहे नष्टं वने मृग्यते। घरमें खोई वस्तु वनमें नहीं ढूँढ़ी जाती।

मुझको क्या तू ढूँढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास।

अहमादिश्च : 'बाहर जितनी वस्तुएँ हैं, उनका आदि परमात्मा है, उनका अन्त परमात्मामें हैं और उनका मध्य भी परमात्मा है। भीतर जो आत्मा है, वही परमात्मा है।

भगवान् कहते हैं : 'बाहर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाशादि जो कुछ है, इनके आदिमें—जब ये नहीं थे तब मैं था। जब ये नहीं रहेंगे, तब भी मैं रहूँगा। मध्यमें जो कुछ पृथ्वी, जल आदि भास रहे हैं, सो भी मैं हूँ।' समग्र सृष्टिके आदि, मध्य, अन्तमें परमात्मा है। परमात्माके अतिरिक्त कोई भूत नहीं है। आत्मा स्वयं भगवान् हैं, तब बीचमें जो दूसरा कुछ मालूम पड़ता है, वह क्या है?

शरीर-दृष्टिसे मैं मनुष्य हूँ और तुम भी मनुष्य हो। इसमें यह छोटा, यह बड़ा भेद कहाँसे आया? यह आ गया मनसे। यह शत्रु और यह मित्र, यह भेद मनसे आया। 'यह मेरा, यह तेरा' यह भेद मनसे आया। इसी मनको यहाँ 'आशय' कहा है। आशय अर्थात् अन्तःकरण। मैं भी परमात्मा, तुम भी परमात्मा, पर इसमें भेद किया इसी आशयने!

तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः।

—ईशावास्योपनिषत्, ५

वह परमात्मा ही दूर और समीप भी है। वही सबके भीतर और सबके बाहर भी है।

स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। —कठोपनिषद्

वह अजन्मा ब्रह्म ही बाहर-भीतर दोनों है। यह बीचमें भेद करनेवाला आशय है।

स्वप्न देखते हैं तो द्रष्टा परमात्मा और दृश्य भी परमात्मा है। वहाँ शत्रु-मित्रका भेद किसने किया ? जाग्रत्-कालमें जो संस्कार पड़े थे, उन्होंने। ये संस्कार ही आशय हैं।

तं विद्याकर्मणि समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाकम्।

पहले अविद्याके अन्तर्गत जैसी बुद्धि, कर्म, विद्या होती है, जैसी पुस्तकें पढ़ीं, जैसा हठ हृदयमें बैठाया, जैसा संग किया, वैसा रंग बुद्धिपर चढ़ गया। वस्तु ज्यों-की-त्यों है, आशय बदलता रहता है। अतः विशेषताको छोड़ो। सामान्य परमात्मा है, विशेषता तो अभिमान है। मूर्खके शरीरमें जो पञ्चभूत हैं, वे ही विद्वान्के शरीरमें भी। सबकी आत्माके रूपमें परमात्मा है। सारी गड़बड़ी मनमें रहती है। अतः मनको ही शुद्ध करनेकी बात शास्त्र कहते हैं, सब महात्मा कहते हैं।

आत्माकी प्रतीति सबको नहीं है। प्रतीति सबको है संसारकी।

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चाद्
मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। —भागवत

जो प्रारम्भमें नहीं था, अन्तमें जो नहीं रहेगा, वह मध्यमें भी नहीं है; केवल नाम बदल गया। जैसे घड़ा पहले नहीं था, मिट्टी थी। घड़ा, फूटनेपर भी मिट्टी रहेगी। अतः मध्यमें जो घड़ा है, वह भी मिट्टी ही है। घड़ा तो नाममात्र है।

यह जो संसार दीख रहा है—मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, वह पहले नहीं था; परमात्मा ही था। प्रलय हो जानेपर यह संसार नहीं रहेगा, केवल परमात्मा ही रहेगा। तब कहें कि 'बीचसे परमात्माको निकाल दो, सृष्टिको रहने दो' तो सृष्टिकी वही दशा होगी जैसे कहें—'मिट्टीको निकाल दो, घड़ा रहने दो।' इसका तात्पर्य यह कि सृष्टि परमात्मासे पृथक् सत्य नहीं है, परमात्मामें ही खचित है।

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यद्
तदेव तस्मादिति मे मनीषा।—भागवत

श्री शुकदेवजी कहते हैं: 'मेरा यह निश्चय है कि जिस उपादानसे जो वस्तु बनती और जिस प्रकाशमें जो वस्तु दीखती है, वह उससे भिन्न नहीं होती।' श्रीमद्भागवतमें (१०.८७.३७) श्रुतियोंने कहा है:

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो
निधनादनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

यह संसार पहले ही नहीं था, न आगे रहेगा। बीचमें आपको एकरस प्रतीत होता हुआ भी झूठा ही प्रतीत हो रहा है।

श्री शुकदेवजीके शिष्य श्री गौडपादाचार्य कहते हैं:

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

जो वस्तु आदि-अन्तमें नहीं रहती—जैसे स्वप्न सोनेसे पूर्व नहीं था और जागनेके बाद नहीं रहेगा, तो वर्तमानमें जिस समय स्वप्न दीखता है, उस समय भी वह नहीं है।

यह जो वर्णन किया जाता है कि ईश्वरसे सृष्टि हुई, ईश्वरमें सृष्टि है, ईश्वरमें सृष्टि लीन हो जायगी—उसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर तथा सृष्टिमें कार्य-कारणभाव या आश्रय-आश्रितभाव है। इसका यही तात्पर्य है कि परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

भगवान्‌ने अबतक दो साधन बतलाये : १. सबका 'मैं' एक ही मैं परमात्मा हूँ। और २. जो सृष्टिका आदि, मध्य, अन्त दीखता है, वह परमात्मा है, अर्थात् समग्र प्रपञ्च भी परमात्मा ही है। अतः या तो ध्यान करो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' या ध्यान करो कि 'परमात्माके अतिरिक्त सृष्टि नहीं है।'

पहलेमें 'त्वं'-पदार्थ और 'तत्'-पदार्थका एकत्व है, तो दूसरेमें 'तत्'-पदार्थसे सृष्टिका अभेद। ◎

१६. आदित्यानामहं विष्णुः

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

भगवान् कहते हैं : अर्जुन, मैं अदितिके पुत्रोंमें विष्णु (वामन) हूँ। ज्योतिवालोंमें किरणमाली सूर्य हूँ। मरुतोंमें मरीचि हूँ। नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हूँ। वेदोंमें सामवेद हूँ और देवताओंमें हूँ इन्द्र ।

अर्जुनने पूछा : केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ? भगवान्ने प्रथम चिन्तनस्वरूप ज्ञानसे—भेदबाध-प्रक्रियासे बतलाया। जगत्का परमात्मामें लय होता है, वह परमात्मासे अभिन्न है और परमात्मा मुझसे अभिन्न है। अतः दृश्य-प्रपञ्च मुझसे अभिन्न है, मुझमें प्रतीतिमात्र है : 'अहं ब्रह्मास्मि ।' 'लय-प्रक्रिया'से द्वितीय चिन्तन बतलाया। अब 'दहर-विद्या' बतलाते हैं :

आदित्यानामहं विष्णुः—कुछ दितिके पुत्र हैं, कुछ अदितिके। 'द्यति इति दितिः' जो टुकड़े-टुकड़े करे, उसका नाम है 'दिति'। 'अदिति' वह है जो खण्ड-खण्ड न करे। दूसरे शब्दोंमें मिलानेकी विद्या अदिति है, तो फूट डालनेकी विद्या दिति। दिति दैत्योंकी माता है, तो अदिति देवताओंकी ।

तुम्हारे शरीरमें नेत्र एक देवता है, तो कान एक देवता। इसी तरह जीभ, नाक, त्वचा, हाथ, पैर, मन, बुद्धि आदिकी कुछ बारह

देवता हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी, पाँच कर्मेन्द्रियोंकी और दो मन-बुद्धिकी। इन बारहों देवताओंकी माता अदिति हैं—अभेद-विद्या। इन बारहोंमें जो बुद्धिमें बैठे वासुदेव विष्णु हैं, उनका चिन्तन करो। यही दहर-विद्या है।

आदित्यानामहं विष्णुः—यहाँ विष्णुका अर्थ है वामन; क्योंकि अदितिके पुत्र वामन हैं। अपने हृदयमें वामन भगवान्‌का चिन्तन करो। सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी जो शाखाएँ फैली हैं, वे अन्तरकी अभेदबुद्धिसे ही निकली हैं। वहाँ बुद्धिमें वामन भगवान् बैठे हैं। श्रुति कहती है :

> ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
> मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥
>
> —कठोप० २.५.३

यह जो श्वास चलती है, वह नाक या मुखसे भीतर जाकर ऊपर ही निकल आती है। अपान वायु नीचे निकलती है। प्राण-अपान एकमें मिल जानेपर मृत्यु हो जाती है। संसारी मनुष्य जब मरता है तो उसका प्राण अपानमें मिल जाता है। उसका प्राण गुदा या मूत्रेन्द्रियसे निकलता है। साधकोंका अपान प्राणमें मिल जाता है। अतः मुख, नाक, कान या नेत्र अथवा सिरसे उनका प्राण निकलता है। एक ओर प्राण चल रहा है तो दूसरी ओर अपान। दोनोंके मध्य वामन भगवान् विराजमान हैं।

> अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः मध्ये आत्मनि तिष्ठति।
> ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
>
> —कठोप० २.४.१२

श्रुति कहती है कि शरीरके मध्य अंगुष्ठके बराबर पुरुष रहता है, वह भूत-भविष्य सबका स्वामी है, अतः उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

ये वामन देखनेमें छोटे हैं; पर उनका वैभव है बहुत बड़ा। वे बलिके यज्ञमें छोटे बनकर पहुँचे थे। बलिको अभिमान था—'मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ।' व्यक्तिको अभिमान होता है—'मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका स्वामी हूँ।' एक पैरसे वामनने बलिकी पूरी पृथ्वी नापकर ले ली। दूसरे पैरसे धर्मका फल 'परलोक' ले लिया। धनीपनेका अभिमान है 'लोकमद' तो धर्मीपनेको अभिमान है 'परलोकेश्वरत्व-मद'। दोनों भगवान्को देने पड़ते हैं। तीसरे पैरके लिए बलिने अपना सिर अर्थात् 'मैं' दे दिया। इसीकी नाम हुआ 'बलि'। बलि चढ़ गयी लोक, परलोक और अभिमानकी !

बलिके देनेका संकल्प करनेपर वामन विराट् हो गये। इसीका नाम 'विष्णु' है। 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः।' जो सबमें व्याप्त है, वह विष्णु है। अथवा 'विश् प्रवेशने'—जो सबमें प्रविष्ट हो, वह विष्णु है। 'वामन—वाम+न'=देखनेमें उलटा लगता है कि यह हमारा लोक-परलोक छीन रहा है; किन्तु वह वाम या उलटा कभी नहीं होता, सदा सबके अनुकूल ही रहता है। देने-वालेकी बलि ले लेता है; किन्तु बलिके अहंकारका जब बलिदान हो जाता है तो वामन भगवान् उसके सेवक बन जाते हैं।

दहरपुण्डरीकं वेश्म : प्राण-अपानकी सन्धिमें जब प्रादेश-मात्र परमात्माका ध्यान होता है, जब भगवान् वामन हृदयमें आते हैं तो वे मानवका धनीपन, धर्मीपन और अहंकार तीनोंको अपने पैरोंके नीचे नाप लेते हैं और स्वयं उसके सेवक बन जाते हैं। अतः भगवान्का हृदयस्थ विष्णुरूपमें चिन्तन करना चाहिए।

भगवान् विभूति-रूपोंमें अपनेको पृथक्-पृथक् बतला रहे हैं। जब एकका विधान किया जाता है तो दूसरेका स्वतः निषेध हो जाता है। जैसे कहें कि 'ये हमारे सम्बन्धी हैं' तो इसका अर्थ होता है कि वहाँ बैठे दूसरे लोग सम्बन्धी नहीं हैं। लेकिन ईश्वरके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं। अतः एकका विधान अन्यका व्यवच्छेदक न हो जाय, इसके लिए पहले पारमार्थिक स्वरूप बतला देना आवश्यक है। इसीलिए पहले अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः इससे 'देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ' यह कहा। 'मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है, दृश्य-प्रपञ्च भी मैं ही हूँ' यह कहनेके बाद ही भगवान्‌ने पृथक्-पृथक् विभूतियोंका वर्णन आरम्भ किया है।

इसमें सारी सृष्टि आदित्य है। कश्यप और अदितिद्वारा ही सारी सृष्टि होती है।

कश्यपः कस्मात्? यतः पश्यको भवति।

'पश्यक' का ही 'कश्यप' बना है। कश्यपका अर्थ है द्रष्टा। अन्तःकरणरूप दर्पणमें हम अपनेको देखते हैं तो प्रतिबिम्ब उलटा दीखता है। हम द्रष्टा हैं, तो प्रतिबिम्ब है दृश्य। हम अपरिच्छिन्न हैं तो प्रतिबिम्ब है परिच्छिन्न। हम चेतन हैं तो प्रतिबिम्ब है जड़। यह प्रतिबिम्ब ही आभास है।

जितने अन्तःकरण हैं, उनकी बीजभूता प्रकृति अदिति है। उसमें द्रष्टाका—कश्यपका प्रतिबिम्ब पड़ता है। अदितिकी वृत्तियोंके भेदसे कश्यपका प्रतिबिम्ब भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। उसे 'आभास' कहते हैं। आभास भिन्न-भिन्न होनेपर भी उसमें व्यापक तत्त्वका चिन्तन विष्णु है। अदितिके बारह पुत्रोंमें अन्तिम पुत्र

वामन हैं। पहले अपने हृदयमें अणुमात्र चिद्वस्तुका चिन्तन करो; फिर वही विराट्, विश्वरूप हो जायगा।

× × ×

ज्योतिषां रविरंशुमान् : ज्योतियोंमें मैं अंशुमान् रवि हूँ। शास्त्रने सूर्यके बारह रूप माने हैं। बारह महीनोंकी उपाधियोंसे ये बारह रूप हैं। उनमें बारहवें रूपका नाम अंशुमान् है। 'अंशुमान्' नामका एक राजा भी हुआ है। वह सगरका पौत्र था। उसका भ्रम न हो, इसलिए 'रवि' कहा।

ज्योतिषां ज्योतिः—हमारी इन्द्रिय-देवता ज्योतियाँ हैं, तो आत्मा है इन ज्योतियोंकी ज्योति। 'द्योतते इति ज्योतिः' जो चमके, वह ज्योति है। संसारकी सभी वस्तुएँ ज्ञानेन्द्रियोंसे ही ज्ञात होती हैं, अतः उन्हींको 'ज्योति' कहते हैं। गन्धको किसने प्रकाशित किया? नाकने। स्वादको किसने प्रकाशित किया? जीभने। रूपको किसने प्रकाशित किया? नेत्रने। स्पर्शको किसने प्रकाशित किया? त्वचाने। शब्दको किसने प्रकाशित किया? कानने। इन ज्योतियोंमें परमात्माका चिन्तन करना हो तो नेत्रमें चिन्तन करो।

नेत्र अध्यात्म है। रूप अधिभूत है। इनमें अंशुमान् रवि अधिदेव हैं। अंश विभाजने, अंशयतीति अंशुः—जो लाल, काले, पीले आदि रूपोंका विभाजन करे। यह विभाजन सूर्यकी रश्मियोंसे होता है : दक्षिणे अक्षं वै पुरुषः।

यहाँ विचार करनेको कहते हैं कि संसारमें जितना भी विभाजन होता है, दृष्टिसे होता है। नेत्र-ज्योतिमें बैठकर परमात्मा ही ससारके विभागको देख रहा है। अतः इस द्रष्टाके रूपमें अपनेको पहचानो। द्रष्टा मुख्य रूपसे दृष्टिमें निवास करता है।

मन एकाग्र करना हो तो शान्त बैठ जाओ। नेत्रकी पुतली स्थिर कर दो। जितनी देर पुतली स्थिर रहेगी, मन स्थिर रहेगा।

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, पर फोटो नहीं आती, पर कैमरेमें फिल्म होनेपर प्रतिबिम्ब पड़ते ही फोटो आती है, वैसे ही जब द्रष्टा कर्तापन करके आभास बनता है, तब फोटो (संस्कार) ग्रहण करता है। जब आभासपना छोड़कर केवल द्रष्टा रहता है तो सबको देखता अवश्य है, पर फोटो किसीका नहीं लेता। ठीक द्रष्टा वही है, जिसपर किसीका संस्कार न पड़े। और आभास वह है, जिसपर दर्शनका संस्कार पड़े। आत्मा द्रष्टा है। दोनों नेत्रोंमें यही द्रष्टा है। दोनों नेत्रोंके ज्ञानसूत्र जहाँसे चलते हैं, उसे तृतीय नेत्र या 'तिल' कहते हैं। यही 'ज्ञानदृष्टि' या शिव-नेत्र है।

वेदमाता गायत्री सूर्यके रूपमें परमात्माका निरूपण करती है—सवितुर्देवस्य तत् वरेण्यं भर्गः धीमहि—सविता देवताका जो वरेण्य भर्ग है, हम उसका ध्यान करते हैं। 'सविता' का अर्थ है सृष्टिकर्ता, कारणरूप परमात्मा। देव है द्योतनशील, स्वयंप्रकाश चेतन। उसका भूः भुवः स्वः-रूप भर्ग या ऐश्वर्य है। अर्थात् जो सर्वाधिष्ठान है। भूः, भुवः, स्वः का अर्थ विश्व, तैजस, प्राज्ञ या जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी है। उस सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश सर्वकारण-कारण परमात्माके भर्गका हम ध्यान करते हैं। धियो यो नः प्रचोदयात्—वह हमारी बुद्धिवृत्तियोंका प्रेरक बने।

इस प्रकार सूर्यमण्डलान्तर्गत चैतन्यका, जो गायत्रीद्वारा प्रतिपाद्य है, ध्यानमें उपयोग होनेके कारण सूर्यको भगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है। सूर्यमण्डलमें परमात्माका ध्यान दो प्रकारसे करते हैं :

१. चिज्ज्योतिः ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः—सब ज्योतियोंकी वह ज्योति है। वह 'वरेण्यम्' वरणीय है अर्थात् उसे पाये बिना हमारा जीवन सफल नहीं। जैसे कन्याके लिए पति वरणीय है, वैसे ही हमारी बुद्धि-वृत्तियोंके लिए वह वरणीय है। धियो यो नः प्रचोदयात्—शरीरके भीतर जो बुद्धिका प्रेरक है, वही सृष्टिका प्रेरक है।

योऽसावसौ आदित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि।

—ईशावास्योपनिषद्

अर्थात् यह जो आदित्यमण्डलमें पुरुष है और जो हमारे भीतर पुरुष है, वह एक ही है, यह अहंग्रहोपासना करो। अथवा—

२. ज्योतिषां रविरंशुमान्ः

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।

अर्थात् सूर्य-मण्डलमें कमलासनपर विराजमान चतुर्भुज नारायणका ध्यान करो। यह अधिदेवका ध्यान है।

सूर्य-मण्डलमें तत्त्वका चिन्तन गायत्रीके अनुसार सात्त्विक चिन्तन है। दृष्टिमें द्रष्टाका चिन्तन अध्यात्म-चिन्तन है: सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। चराचर जगत्की आत्मा सूर्य है। सबका प्रकाशक सूर्य है। इस रूपमें सूर्यका चिन्तन करो तो भेद-बुद्धि मिट जायगी।

× × ×

मरीचिर्मरुतामस्मि—वायुओंमें मैं मरीचिदेव हूँ। देवता अदितिके पुत्र हैं, पर मरुत् हैं दितिके पुत्र। देवता बारह हैं, तो

मरुत् उनचास। इनके नाम हैं : प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, प्रवह, पिपर, शंकु, संवह, परावह आदि। जैसे नाना प्रकारकी गैसें होती हैं, वैसे ही शरीरके भीतर एवं बाहर चलनेवाली हवाओंके ये भेद ऋषियोंने किये हैं। शरीरमें श्वास चलती है तो वह एक वायु है, पलक गिरती है तो वह दूसरी वायु और अङ्ग फड़कते हैं तो वह तीसरी वायु है। अपनी वायु और डकार आना ये पृथक्-पृथक् वायु हैं। रक्त चलना भी एक वायुसे होता है।

दितिने भगवान्‌की आराधना की, जिससे उसमें शक्ति आ गयी। इसके फलस्वरूप उसे ये ४९ मरुद्गण पुत्र हुए। मरुत् मध्य अन्तरिक्षमें विचरण करते हैं। मध्य-शरीरमें विचरण करनेसे भी इनका नाम 'पवन' है। भगवान् कहते हैं कि इन मरुतोंमें मरीचिके रूपमें भगवच्चिन्तन करो।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि जो ४९ मरुत् ब्रह्माण्डमें हैं, उनमें-से किसीका नाम भी 'मरीचि' नहीं है। जो आन्तर (शरीरमें) ४९ पवन हैं, उनमें भी किसीका नाम 'मरीचि' नहीं है। तब 'मरुतोंमें मैं मरीचि हूँ' इस कथनका क्या अर्थ है?

बात यह है कि शरीरमें आलस्य, निद्रा, प्रमाद तमोगुणके कार्य हैं। इन आलस्य, निद्रा, प्रमादरूप तमोगुणसे ग्रस्त पुरुषको ईश्वर कभी नहीं मिलता। आलसी वह है, जिसे कर्तव्य याद तो आये, किन्तु आलस्य आ गया, किया नहीं। जिसे कर्तव्य याद ही नहीं आये, वह 'प्रमादी' है। याद करनेकी स्थिति ही नहीं रही, सो गये।

मेरे पास एकबार सायंकाल एक ब्रह्मचारी आये। वे चार-पांच विषयोंके आचार्य हैं। मुझे गुरु मानते हैं। कई वर्षोंपर आये थे। मैंने एकसे कहा : 'इन्हें ठहरा दो। भोजन करा देना। हम इनसे कल मिलेंगे।' दूसरे दिन ब्रह्मचारीसे मैंने पूछा : 'कल भोजनादि हुआ ?' वे बोले : 'सब ठीक ही हुआ।' मुझे शंका हुई। जिनको मैंने ठहराने, भोजन करानेको कहा था, उनसे पूछा तो वे बोले : 'मैं तो भूल ही गया, सो गया। इन्हें भोजन कराना याद ही नहीं रहा। क्या करें, यह तो हमारा स्वभाव बन गया है भूल जाना!' वे इस भूलको अपना अपराध भी नहीं मानते। यह तमोगुण है। बराबर दुःखी रहना भी तमोगुण है।

हाँ, तो यहाँ 'मरीचि' है प्राणोंकी दीप्ति। मरीचिका अर्थ है सावधानी। हमारे प्राणोंमें जो सावधान रहनेकी शक्ति है, ओजस्विता है, जब चाहे तब कर्तव्यतत्पर हो जानेकी क्षमता है, वही 'मरीचि' है। जैसे कहते हैं : 'ये महाप्राण हैं।' अर्थात् इनमें क्रियाशक्ति जागृत् है। साधनमार्गमें चलनेवाला आलस्य, प्रमाद, निद्रा, दुःख, मोहको साधन समझे तो साधना कभी नहीं होगी। उसे तमोगुणसे ऊपर उठकर कर्तव्यमें तत्पर होना चाहिए। यह प्राणोपासना है।

अजपा-जप—'सोऽहम्' प्राणसे ही होता है। व्यष्टिदेहमें प्राणकी जितनी शक्तियाँ और समष्टि-देहमें वायुकी जितनी शक्तियाँ क्रियाशील हैं, उनमें तमस्को मारनेवाली दीप्ति 'मरीचि' परमात्मा है : म्रियते तमः अनेन इति मरीचिः।

यह प्राणोपासना और प्राण-निरोध परमात्माकी प्राप्तिमें साधन बतलाया गया है। प्राणोंको सुख-दुःख होता ही नहीं।

'मरुत्—मा+रुत' = रोओ मत। इन्द्रने योगबलसे सौतेली माता दितिके गर्भमें प्रवेश किया और गर्भके सात टुकड़े कर दिये। इतनेपर भी गर्भ नहीं मरा तो एक-एकके फिर सात-सात टुकड़े कर दिये। इस प्रकार ४९ बालक हो गये। वे रोने लगे, बोले : 'इन्द्र! जिस माताके पेटमें हम हैं, उसीमें तुम भी हो। हम तो तुम्हारे भाई हैं। हमें मारो मत।' इन्द्रने कहा : 'रोओ मत।' अतः ये कभी रोते नहीं। शरीर, मन, वीर्यादिको ये ही धारण करते हैं; किन्तु कभी दुःखी नहीं होते। रोना प्राणका धर्म नहीं, मनका विकार है।

'मरीचि' का अर्थ है किरण। मरीचि ब्रह्माके पुत्र हैं। इनके पुत्र हैं कश्यप।

श्रुति कहती हैं : पावकासः शुचयः सूर्या इव। दिवोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः। प्राण भी सूर्यकी किरणोंके समान होते हैं : यत्ते मरीचिः प्रवदः। इस प्रकार वेदोंमें प्राणोंकी किरणोंके लिए मरीचि शब्द आया है।

प्राण चाहे जितने हों, उन्हें शान्त करो, तब वे एक हो जायँगे। हम सो जाते हैं तो श्वास बढ़ जाती है। समाधिमें श्वास चलना बन्द हो जाता है, बाल नहीं बढ़ते, रक्ताभिसरण एवं एवं पाचन भी रुक जाता है। उन समय उनचास प्राण अभिन्न होकर रहते हैं। प्राणोंकी यह शान्त-दशा 'मरीचि' है। इसी मरीचिके रूपमें परमात्मा हममें बैठा है।

× × ×

नक्षत्राणामहं शशी:—नक्षत्र कहते हैं तारोंको। किसीके मतमें सत्ताइस नक्षत्र हैं अश्विनी, भरणी आदि तो किसीके मतमें

श्रवण एवं धनिष्ठाके मध्य एक अभिजित् नक्षत्र और है। ये २७ नक्षत्र मेष, वृष आदि १२ राशियोंमें २। के हिसाबसे बांटे जाते जाते हैं। सूर्य एक महीनेमें एक राशि पार करता है, जब कि चन्द्रमा सवा दो दिनोंमें एक राशि। चन्द्रमाकी गति पृथ्वीके चारों ओर है। चन्द्रमासहित पृथ्वीकी गति सूर्यके चारों ओर है।

पृथ्वीको स्थिर मानकर जिसने सूर्यको चल माना है, उसने भी गति उतनी ही मानी है। इससे गणितमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रतीति या 'आधिदैविक' दृष्टिको लेकर जो चलता है, उसके लिए पृथ्वी स्थिर है और सूर्य चल है। यन्त्रों या 'आधि-भौतिक' दृष्टिसे जिसने खोज की, उसके लिए पृथ्वी चल है और सूर्य अचल। 'आध्यात्मिक'-दृष्टिसे वस्तुतः पृथ्वी और सूर्य दोनों चल हैं।

'प्रकाश'की दृष्टिसे दृष्टिमें सूर्यका चिन्तन होता है। 'क्रिया-शक्ति'की दृष्टिसे प्राणोंमें मरीचिका चिन्तन है। अब 'स्वाद'की दृष्टिसे चन्द्रमाका चिन्तन बतला रहे हैं।

आनन्द न आये तो कोई काम ही क्यों करे? मनुष्य जहाँ है, वहाँ कष्ट पाता हो, ऊबता हो तो अन्यत्र जाता है तो नवीन आनन्दके आकर्षणसे जाता है। इसलिए साधनाका प्रयोजन है दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति। अतः साधनामें रस आना चाहिए।

नक्षन्ति इति नक्षत्रः—जो सारी सृष्टिमें गमनशील हैं, उनका नाम नक्षत्र है। कर्मेन्द्रियाँ नक्षत्र हैं। इनसे आप संसारमें सुख लेने जाते हैं; किन्तु मन न हो तो क्या सुख मिलेगा? मन दूसरी जगह गया हो तो भोजन, इत्र, संगीत क्या किसीमें रस

आयेगा ? मनमें रस हो, तभी रस आता है। चन्द्रमा मनका अधिदेवता है। श्रुति कहती है : मनो ब्रह्मेत्युपासीत—मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो।

शास्त्रमें कहा गया है कि बहुत-से पुण्यात्मा लोग मरनेपर तारे बन जाते हैं, इसका यह भी तात्पर्य है कि जो पुण्यकर्म करता है, वह चमकता है—नक्षन्ति पुण्यकर्मणा ऊर्ध्वं गच्छन्ति इति नक्षत्रः।

भगवान् कहते हैं : 'इन ऊपर जानेवालोंमें मैं चन्द्रमा हूँ।' जीवनमें रस ही सर्वोपरि है। मनुष्य रस आये तो सच बोले या रस आये तो झूठ बोले। रस आये तो चोरी करे, डाका डाले। यह रस जीवनका प्रयोजन है। मोक्ष या भगवत्प्राप्ति भी आनन्द-रस पाने के लिए ही है।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।

परमात्मा रसरूप ही है। इसी रसको पाकर जीव आनन्दी होता है।

इस 'रसरूप' ब्रह्मका प्रतीक चन्द्रमा है तो 'ज्योतिरूप' ब्रह्मका प्रतीक सूर्य। सूर्य बुद्धिप्रधान है तो मनःप्रधान चन्द्र। धर्मकी यह विशेषता है कि स्त्रीकी उपासनामें चन्द्रमाकी तो पुरुषकी उपासनामें सूर्यकी प्रधानता है; क्योंकि स्त्री रस-प्रधान है। अतः उसकी उपासना चन्द्रमाके रूपमें मनःप्रधान है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है : जैसे सूर्य नेत्रकी देवता है, सूर्यके प्रकाशके बिना नेत्र देख नहीं पाते। दूसरे सब प्रकाश अग्नि, विद्युतादि प्रकारान्तरसे सूर्य-ज्योति ही हैं। तब मनकी देवता चन्द्र कैसे ? क्या अमावस्याको मन संकल्प-विकल्प नहीं करता ?

चन्द्रमाकी किरणोंसे ही सब औषधि-वनस्पतियाँ पुष्ट होती हैं। यह तथ्य है कि रात्रिमें ही सब तृण-वृक्षादि बढ़ते हैं। चन्द्रमाके रससे पुष्ट अन्न-फलादिका जब हम सेवन करते हैं तो उस भोजनके अंशसे ही मन पुष्ट होता है। यदि अन्नका रस शरीरमें न हो तो मन काम नहीं करेगा। लम्बा उपवास करनेपर मन शिथिल पड़ जाता है। सूर्यसे अनुगृहीत बिजली, अग्नि या चन्द्रमाके प्रकाशमें जैसे नेत्र देखते हैं, वैसे ही चन्द्रमाके रससे अनुगृहीत अन्न-फलादिके रसोंसे अनुगृहीत ही मन काम कर पाता है। इस चन्द्रमाके रूपमें भगवान् आह्लादस्वरूप हैं, उनका चिन्तन करो।

× × ×

वेदानां सामवेदोऽस्मि : 'वेद' शब्दका अर्थ है ज्ञान। विद् ज्ञाने, वेद्यते अनेन इति वेदाः। जिससे वस्तु जानी जाय, वह वेद है। जो परम वस्तु इन्द्रियों, मन, बुद्धि या यन्त्रोंसे कभी जानी नहीं जा सकती, वेद उस परमात्माको बतलाता है।

बाहरकी वस्तुओंको देखकर जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियोंसे हो या यन्त्रों द्वारा ऐन्द्रियक ज्ञान है। लेकिन जो इन्द्रिय, मन और बुद्धिके परे है : बुद्धेः महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः अर्थात् बुद्धिसे परे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त प्रकृति और उस प्रकृतिसे भी परे परमात्मा है, उसका ज्ञान पुरुषकी इन्द्रियों, यन्त्रों, मन या बुद्धिका विषय नहीं है।

सभी पौरुष-ज्ञान 'ज्ञानजन्य' हैं, किन्तु परमतत्त्वका ज्ञान ज्ञानजन्य ज्ञान नहीं है। वह 'अनुभवजन्य ज्ञान' नहीं है। वेदके द्वारा ही उस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है, इसीसे वेदको अपौरुषेय कहते हैं। वेद भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि पुरुषजन्य दोषोंसे सर्वथा वेद असंस्पृष्ट हैं। वे चार हैं : ऋक्, यजुः, साम और अथर्व।

गीतिषु सामाख्या : साम कहते हैं गायनको। साम=गीति, रस और वेद=ज्ञान, अस्मि=है। अतः सामवेदका अर्थ हुआ सच्चिदानन्द। 'सामवेदोऽस्मि' में 'अस्मि'—'अस्ति' यानी सत्ता है। वेद 'भाति', ज्ञान या चित् है तो साम गीति, रस 'प्रियता', आनन्द है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य छान्दोग्योपनिषत्का है और वह उपनिषत् सामवेदकी ही है।

प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित ज्ञानके प्रतिपादनमें ही वेदका वेदत्व है।

स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाविता।

वह स्वयं अनुभूतिस्वरूप होनेसे उसमें आनुभाविता नहीं है। परिस्थितिके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। देश चाहे भारत हो या यूरोप, अपरिच्छिन्न ज्ञानमें देशके भेदसे भेद नहीं होता। काल चाहे कोई हो, कालके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। ज्ञान यथार्थ, अयथार्थ, दूर-निकट, घट-पट, समाधि-विक्षेप—सबका प्रकाशक होता है।

इस ज्ञानका निर्माण ईश्वर नहीं करता। ईश्वर ज्ञानका निर्माण करे, तो प्रश्न होगा कि ज्ञान-निर्माणसे पूर्व ईश्वर ज्ञानी था या अज्ञानी? ज्ञान अनादि, अनन्त, शाश्वत है; अतः ज्ञानका कोई कर्ता नहीं। इसी कारण वेद अपौरुषेय है। ज्ञान ईश्वर और जीव दोनोंसे परे है। वह ज्ञान वेदोंमें है। चारों वेदोंमें सभी समान रूपसे प्रमाण हैं।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतद् विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष या अनुमानसे जिस वस्तुतत्त्वका जानना संभव नहीं, उसे वेद बतलाते हैं, यही वेदका वेदत्व है।

ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्।
सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः···।

ऋग्वेदसे वैश्यवर्णकी उत्पत्ति हुई। यजुर्वेदसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए। सामवेदसे ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न हुआ। जो ज्ञान-विज्ञानकी रक्षामें लगे, वे ब्राह्मण हुए। राष्ट्रकी, समाजकी रक्षामें लगे वे क्षत्रिय हुए। वस्तुका उत्पादन एवं विनियम करनेवाले वैश्य बने तो जो शारीरिक शक्ति ठीक-ठीक लगा सके, वे शूद्र हुए। इस प्रकार वर्णोंका विभाजन बहुत सोच-समझकर किया गया था।

ज्ञान तीन प्रकारका होता है: १. विकृत ज्ञान, २. संस्कृत ज्ञान और ३. शुद्ध ज्ञान। पैसेसे सुख मिलता है, यह विकृत ज्ञान है, क्योंकि यह ज्ञान विकारज है। पैसा चोरीसे, बेईमानीसे, छल-कपटसे चाहे जैसे मिले, यह प्रेरणा इसमें है। पैसा ईमानदारीका चाहिए। दूसरेको दुःख देकर या छलकर मिला, पैसा नहीं चाहिए, यह संस्कृत ज्ञान है। शुद्ध ज्ञान वह है जहाँ अपने आपमें तृप्ति हैं। तृप्ति विषयमें और ज्ञान अपनेमें है तो वह ज्ञान अपूर्ण है। जो ज्ञान तृप्तिस्वरूप है, वही वह पूर्ण कहलाता है। वेदोंमें यही पूर्णज्ञान है।

सहस्रवर्त्मा सामवेदः। सामवेदकी एक हजार शाखाएँ हैं। संगीत होनेसे इसमें माधुर्य है। अतः भगवान् कहते हैं: वेदानां सामवेदोऽस्मि। सम्पूर्ण वेदोंमें जो मधुरातिमधुर ज्ञान है, वह मैं हूँ। सामवेद या संगीतको अपना स्वरूप कहनेका तात्पर्य है कि मन्त्र-जपमें मन्त्रके स्वरपर ध्यान देना चाहिए। यह स्वर परमात्मा है।

× × ×

देवानामस्मि वासवः—यहाँ 'देवानां'से ब्रह्मा, विष्णु, शिवका ग्रहण नहीं है। देवका अर्थ है स्वर्गमें रहनेवाले—सुख देनेवाले देवता। इन सभी देवताओंका स्वामी इन्द्र है।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः।

महान् यशस्वी इन्द्र हमारे लिए कल्याणकारी हों। ये इन्द्र हाथके देवता हैं। जैसे नेत्रके देवता सूर्य है, सूर्यके प्रकाशमें नेत्र देखते हैं, वैसे ही इन्द्रकी शक्तिसे हाथ काम करते हैं। अतः सत्कर्म ही करो। हाथसे बुरा काम मत करो। इससे 'स्वस्ति' तुम्हारा कल्याण होगा। 'वृद्धश्रवाः' लोकमें तुम्हारा यश होगा—तुम्हारे अन्तःकरणको सुख-शान्ति मिलेगी। जो अपने शरीरसे बुरा काम करेगा, उसे दुःख होगा। अशान्ति मिलेगी, अपयश और अकल्याण होगा।

एक ओर परमात्मा वेदानां सामवेदोऽस्मि कहकर स्वयंको ब्रह्मविद्या, ज्ञानस्वरूप बतलाते हैं तो दूसरी ओर देवानामस्मि वासवः से वे ही स्वयंको सत्कर्मके प्रेरक माध्यम कहते हैं।

सब सुखोंके दाता, सब देवताओंके स्वामी हमारे हाथ हमारे कर्म ही हैं। अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवता तो बहुत हैं, किन्तु सबसे बड़ा देवता हमारे हाथमें बैठा है। अतः अच्छे काम करोगे तो सभी देवता तुमसे सन्तुष्ट होंगे; क्योंकि देवताओंका स्वामी आपके साथ होगा।

आप संयम करो कि इन्द्र देवताके रूपमें परमात्मा आपके हाथमें बैठा है। अब आप संसारमें अच्छेसे अच्छा, बड़ेसे बड़ा काम कर सकोगे और परमैश्वर्यशाली इन्द्रके समान यशस्वी बनोगे। सुखी होओगे, शान्त बनोगे और आपका कल्याण होगा। ●

१७. इन्द्रियाणां मनश्चास्मि

वेद होते हैं मन्त्रप्रधान और उन मन्त्रोंके होते हैं देवता। देवताकी मनसे भावना की जाती है। भावना करते हैं चेतन प्राणी। इस प्रकार यज्ञकी पूरी सामग्री भगवान्‌ने बतला दी।

यज्ञमें वेद, देवता, हाथ आदि इन्द्रियां और मनमें भावना होनी चाहिए। साथ ही चेतन कर्ता होना चाहिए। भगवान्‌ने वेद और देवताको अपना ही स्वरूप बतला दिया। अब वे मनको भी अपना स्वरूप बतला रहे हैं। इस प्रकार भगवान् कह रहे हैं कि 'मेरे द्वारा ही मेरी आराधना होती है।'

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि : इन्द्रियोंमें मैं मन हूं।

इन्द्रियाणि दशैकं च : इन्द्रियां ग्यारह हैं—पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन। इस प्रकार मनकी गणना भी इन्द्रियोंमें होती है। विष्णुपुराणमें आया है : **एकादशं मनश्चात्र**। इन दस इन्द्रियोंमें मन ग्यारहवां है।

नेत्रसे रूप, कानसे शब्द, त्वचासे स्पर्श, नासिकासे गन्ध, और जिह्वासे रस जाना जाता है। ऐसे ही मनसे क्या जाना जाता है? आपके शरीरमें जो पीड़ा होती है, वह किससे जानी जाती है? मनसे जानी जाती है। अतः मन अन्तरिन्द्रिय है। बाकी इन्द्रियां 'असाधारण करण' हैं तो मन है 'साधारण करण'। नेत्र केवल रूप ही देख सकते हैं, शब्द नहीं सुन सकते। नासिका केवल गन्ध

ही बतला सकती है, शब्द नहीं सुन सकती या रूप नहीं देख सकती। लेकिन मन नेत्रमें रहे तो नेत्र ठीक-ठीक देखें, नासिकामें रहे तो नासिका गन्ध सूँघे। एक-एक विषयके ज्ञानके लिए एक-एक इन्द्रिय असाधारण करण है, किन्तु मन सब इन्द्रियोंमें साधारण रूपसे करण होता है। मन सामान्य है, यही मनका ईश्वरत्व है। ईश्वर भी सबमें सामान्य रूपसे रहता है। अनेकमें एक होकर रहना ही ईश्वरत्व है।

मन केवल ऐन्द्रियक ज्ञानमें ही सहायक नहीं। इन्द्रियोंसे जो नहीं दीखता, उसे भी मन देखता है। नेत्रसे कोई मनुष्य दीखता है; किन्तु वह शत्रु है या मित्र, यह मन ही बतलाता है। अच्छा काम, बुरा काम भी मन ही बतलाता है। मन साधक-बाधक दोनों है। असद्भाव और सद्भाव दोनों मनमें आते हैं।

मन एव महारिपुः—संसारमें फँसा मन ही महाशत्रु है। लेकिन भगवान्‌की ओर लगा मन परम मित्र है।

संवेदनमेवानन्दघनं वदन्ति : हमारे मनकी संवेदनात्मक स्थितिका नाम है—'आनन्दघन'। तुम क्या याद करते हो? क्या कल्पना करते हो? कितनी स्वतन्त्रता है तुम्हें? उत्तम यह है कि भगवान्‌का स्मरण कर आनन्दित होओ। रसानुभूतिके लिए तुम्हें संसारकी कोई वस्तु नहीं चाहिए। बाहरी दृश्य या वस्तुएँ बाहरसे सुख भीतर नहीं डालतीं। वे केवल भीतरके सुखको जगा-भर देती हैं। समस्त संवेदन मन ही है।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि : कितनी सुगम-सुलभ बात है कि परमात्मा मनमें है! यह जो संसार दीखता है, इसके प्रपञ्चत्वका अपोहन करो।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानिति शान्त उपासीत।

'सब दृश्य प्रपञ्च ब्रह्म है। यह उसीसे उत्पन्न है, उससे बाहर नहीं है। उसीमें स्थित है और उसीमें लीन होता है' यह चिन्तन करो। अन्वय-व्यतिरेकसे चिन्तन करो और शान्त हो जाओ; क्योंकि एक ही परब्रह्म परमात्मा सब रूपोंमें प्रकट हो रहा है तो रागका विषय भिन्न और द्वेषका विषय भिन्न नहीं है। जिससे राग है, वह भी वही है और जिससे द्वेष करते हो या जिससे द्वेष है, वह भी वही है जिससे राग करते हो। अतः राग-द्वेषका अपोहन कर दो।

रागाश्रय एवं राग-विषय तथा द्वेषाश्रय एवं द्वेष-विषय एक ही पदार्थ हैं। सर्वं ब्रह्म यह जो सदायतन-सद्रूप ब्रह्म है, वही अपना स्वरूप है। यह एकाग्रता है, यह अवरवृत्ति है। परवृत्ति है—अहं ब्रह्मास्मि, अहमेव। जब देश, काल, वस्तुका परिच्छेद हट गया तो 'अहांम्' ब्रह्म बन गया। जब देश, काल, वस्तुका परिच्छेद बाधित हो जाय, तब ब्रह्म कहना भी अनावश्यक है। लेकिन 'अहमेव' बोलना भी शब्द-परामर्श है। अब शान्त हो गये! यह वेदान्तकी रसानुभूति-प्रक्रिया है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। इन्द्र मायासे अनेक रूपोंमें दीखता है। ये इन्द्रियाँ ही इन्द्रकी माया हैं। विषय मायाका खेल है।

इदं द्रष्टा इति इदंद्रः। इदंद्रं सन्तमिति इन्द्रेत्याचक्षते।

'इदं' के द्रष्टाको ही 'इदन्द्र' कहते हैं। इदन्द्रके 'दं' का लोप करके उसीको 'इन्द्र' कहते हैं। इन्द्रस्य लिङ्गमिति इन्द्रियम्—इसी इन्द्रके चिह्नको 'इन्द्रिय' कहते हैं। जिनके द्वारा आत्मा संसारके विषयोंका आस्वादन करता है, वे इन्द्रियाँ हैं।

इन इन्द्रियोंके भीतर बैठा है मन। मन्यते अनेन इति मनः—जिससे मान्यताएँ बनती हैं, वह मन है। एक-एक महाभूतकी एक-एक सात्त्विक तन्मात्रासे एक-एक इन्द्रिय बनी है। जैसे शब्द-तन्मात्रासे कान, स्पर्श-तन्मात्रासे त्वचा, रूप-तन्मात्रासे नेत्र, रस-तन्मात्रासे रसना और गन्ध-तन्मात्रासे नासिका। किंतु शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचोंकी सात्त्विक तन्मात्राओंसे बना है 'मन'। इन्द्रियाँ एक-एककी सात्त्विक तन्मात्रा है। शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध ये तामस हैं; क्योंकि जानते नहीं हैं, जाने जाते हैं।

यहाँ यह मन ही परमात्मा कहा गया है; क्योंकि—

> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
> गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

मन ही मनुष्योंके बन्धन तथा मोक्ष दोनोंका कारण है। संसारके गुणों—विषयोंमें आसक्त हो तो बन्धनका और भगवान्‌में लगा हो तो मोक्षका कारण होता है।

मन इन्द्रियोंद्वारा या विना इन्द्रियके जब विषयोंका ग्रहण करता है, तो विषयाकार बनता है और जब भगवान्‌का चिन्तन करता है तो भगवदाकार हो जाता है, जैसे कि दर्पणके सामने जो वस्तु हो, तदाकार दर्पण दीखता है। मनमें ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड चमकते हैं। मन देखना छोड़ दे तो समाधि सहज है। मनसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है : मनसैवेदमाप्तव्यम्।

जिसे हम मन कहते हैं, उसका एक छोटा रूप होता है और एक बड़ा रूप। जैसे प्राणवायुके दो रूप होते हैं : १. सारी सृष्टिमें भरी हवा और २. श्वास-प्रश्वास। हमारी साँस हवासे एक भी है

और पृथक् भी। इसका पार्थक्य शरीरकी दृष्टिसे है। व्यष्टि-समष्टिके भेदको मिटा दें तो प्राणो वै ब्रह्म।

व्यष्टि-मन और समष्टि-मन ये मनके ये दो भेद हैं। देहकी उपाधिसे मनमें जो भेद प्रतीत होता है, वह अहंकारके कारण ही है। अपने मनमें स्थित वासनाओं एवं व्यक्तिगत अहंकारको मिटा देते हैं, तो मन शान्त होकर समष्टि-मनसे एक हो जाता है। तब बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

योगी जब अपने मनको शान्त, निर्वासन, निरहंकार करता है—संकल्प, विकल्प, अहंकार और अनुसन्धान इन चारों मनो-वृत्तियोंका निरोधकर समष्टिसे मिल जाता है, तब समष्टिकी सारी शक्तियाँ उसके मनके अन्तर्गत हो जाती हैं। तब उसमें सर्वविध ऐश्वर्य आ जाता है।

आत्मा और इन्द्रियोंके मध्य सम्बन्ध बनानेवाली जो शक्ति है, उसे चैतन्यकी दृष्टिसे 'ईश्वर' कहते हैं और जगत्-कारणकी दृष्टिसे 'माया' तो व्यष्टिदृष्टिसे वही 'मन' है। मनको पहचान लिया जाय तो वह ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है : मनो ब्रह्म इति व्यजानात्।

भोग और कर्म शास्त्रानुसार करने चाहिए। जब कुछ न करना हो तो शान्त बैठ जाओ और अपने मनसे मनको देखो। मन जब संसारको देखता है, तो संसारमें फँसनेका कारण बनता है। जब मन मनको ही देखता है तो परमात्माकी प्राप्तिका कारण बनता है।

मनसे मनको देखने लगे और घड़ीकी याद आ गयी तो स्मरण करो कि घड़ी भी ब्रह्म है। कपड़ेकी याद आयी तो स्मरण करो

१ इन्द्रियाणां मनश्चास्मि

कि कपड़ा भी ब्रह्म है। कपड़ेकी याद भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इस रीतिसे जो-जो याद आये, प्रत्येक वस्तुको ब्रह्म देखो, ब्रह्म समझो। जब प्रत्येक संकल्पको इस प्रकार ब्रह्माधिवासित करोगे, तब ईशावास्यमिदं सर्वम्। 'इदं सर्वं मनोगतम् ईशावास्यम्'— यह सब मनमें आया ब्रह्म है। ऐसा करनेपर मनमें आयी वस्तुमें भोग्यताकी भ्रान्ति, काम, क्रोध, लोभ या मोह, उसे ब्रह्म ही मान लेनेके कारण, कट जायगा।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश सब मनोमय हैं। सम्पूर्ण दृश्य संसार इन्हीं पञ्चभूतोंका खेल है। देश, काल, वस्तु सब कुछ मन है और मन परमात्माका रूप है।

येन पश्यति येन शृणोति येन गन्धमा-
जिघ्रति येन वदति तदेतद् हृदयं मनश्च।

जिससे हम देखते, सुनते, गन्ध सूँघते या बोलते हैं अर्थात् जिससे हम बाहर-भीतरके सभी अर्थोंको जानते हैं उसको 'हृदय' या 'मन' कहते हैं। मनके संयोगके बिना न नेत्र देख पाते हैं, न कान सुन पाते।

अन्यत्रमना अभूवं नापश्यम्,
अन्यत्रमना अभूवं नाश्रृणवम्।

मन दूसरे स्थानपर था, इसलिए हम देख नहीं सके। मन दूसरे स्थानपर था, अतः हम सुन नहीं पाये।

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा
धृतिरधृतिः बुद्धिः भीः इति एतत्सर्वं मन एव।

कामना, संकल्प-विकल्प, श्रद्धा-अश्रद्धा, धैर्य-अधैर्य, बुद्धि, भय यह सब मन ही है।

काम : यह वस्तु हमें मिलनी चाहिए।

संकल्प : यह वस्तु उत्तम है। विचिकित्सा : संशय, यह वस्तु उत्तम है या नहीं।

श्रद्धा : ये गुणवान् हैं। अश्रद्धा : यह दुर्गुणी है।
धृति : धैर्य होना। अधृति : धैर्य खो बैठना।

बुद्धि : समझदारी। भीः भय होना।

नाना प्रकारके ये रूप धारणकर परमात्मा ही हमारे भीतर खेलता है। उपनिषद्की वाणी है :

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं श्रद्धा स्मृतिर्धृति इष्टिः दृष्टिः
युतिः एतत्सर्वं प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

प्रज्ञान : अन्तःकरणमें बैठकर परमात्मा ही तत्-तत् उपाधियोंसे खेल रहा है। जो-जो वृत्तियाँ उठती हैं, उसमें आभास बनकर वही खेलता है। परमात्माके बोलने, संकल्प करनेका स्थान मन है।[1]

यही 'हृषीकेश' है। हृषीक = इन्द्रिय + ईश = स्वामी— इन्द्रियोंका स्वामी मन ही है। भगवान् इन्द्रियोंमें मन हैं।

---

१. यहाँसे आगे प्रवचनमें 'शिव-संकल्प-सूक्त'के पूरे मन्त्रोंका क्रम-व्ययसे प्रवचन हुआ था। किन्तु 'शिवसंकल्प-सूक्त' विस्तृत प्रवचनके रूपमें पृथक् पुस्तकाकार बन चुका है। अतः उस अंशको यहाँ नहीं दिया रहा है।

भगवान्‌को संसारमें जो-जो रूप धारण करना होता है, वह मनद्वारा ही धारण करते हैं।

> मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
> भविष्यतश्च राजेन्द्र तथा च न भविष्यतः ॥—भागवत

श्री शुकदेवजी परीक्षित्‌से कहते हैं कि 'राजेन्द्र! मनुष्य किस योनिसे आया है और किस योनिमें जायगा, वह मुक्त होगा या नहीं, यह सब मनुष्यके मनसे ही पता लग जाता है।'

जो नरकसे आता है, वह बहुत कष्ट भोगकर आता है, अतः चिढ़ा हुआ होता है। उसकी वृत्ति 'काट खाऊँ' की होती है। वह अकारण ही क्रोध करता और लोगोंको कष्ट देता है, चिढ़ता रहता है। लेकिन जो स्वर्गसे आता है, वह तृप्त रहता है। उसका मन कहता है—'हम बहुत भोग चुके, दूसरोंको भी भोगने दो।' उसके मनमें परोपकारकी वृत्ति होती है।

मनुष्य आगे कहाँ जायगा, यह भी मनसे पता लग जाता है। उसे ज्यादा क्या चाहिए? मांस चाहेगा तो गीध होगा। हिंसा चाहेगा तो बाघ, सिंह या भेड़िया होगा। तुम्हारे मनमें जो चाह बहुत बलवान् हो, उसी योनिमें जाओगे।

जीवन्मुक्त होनेका पता भी मनसे लग जाता है। उसे कुछ नहीं चाहिए। उसका मन श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें, सत्संगमें ही लगता है। जिसका मन वासना-परित्यागकी ओर जा रहा हो, वह निश्चय ही मुक्त होगा।

जैसे परमात्मा अपने संकल्पसे जगत् बनाता है, वैसे ही मन भी अपने संकल्पसे तत्तद् शरीरधारी बनता है। अतः यदि परमात्माको

पाना चाहते हो तो मनसैवेदमाप्तव्यम्—मनसे ही उसे प्राप्त करो। विषयको छोड़कर शरीरमें और शरीरका ध्यान छोड़कर मनमें आ जाओ। फिर मनकी बदलती वृत्तियोंको भी छोड़ दो। अब तुम परमात्मामें हो। मनःसामान्यमें दृश्यपनेको छोड़ दो तो दृङ्मात्र वस्तु परमात्मा ही है।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि : भगवान् बतला रहे हैं कि 'मनमें हूँ।' मन न रहे तो संसार नहीं। श्री गौडपादाचार्य कहते हैं :

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।

जहाँ मन अमन हो गया, वहाँ द्वैतका पता नहीं लगता। जीवका मन ऐसा है कि 'यह पायें, यह छोड़ें' में लगा रहता है। जब जीवने अपनी यह वासना छोड़ दी तो उसका मन परमेश्वर ही है।

मनको भगवान् अपना स्वरूप बतला रहे हैं तो मनमें कुछ-कुछ गुण भी तो वैसे होने चाहिए, जो भगवान्में हैं। भगवान् अपने भीतर अपने संकल्पसे सृष्टि करते हैं, तो मन भी अपने भीतर स्वप्नमें संकल्पसे सृष्टि कर लेता है। जाग्रत्में भी आप यहीं बैठे-बैठे चौपाटी (बम्बईका समुद्र-तट) की याद करते हैं तो मनमें ही चौपाटी, समुद्र, वहांकी भीड़ सब बन जाते हैं। मनने ही अपनेमें चौपाटी बना ली और उसे धारण कर रहा है, फिर वह मनमें ही लीन हो जायगी।

जब तुम यह समझोगे कि मनमें ही यह चौपाटी दीख रही है तो मन दीखेगा। विषय-देशमें, विषय-कालमें मत जाओ। विषयकी कल्पनाको देखो कि मन वह कर रहा है। कल्पित भूतमें स्मृति और कल्पित भविष्यमें योजना है, ये भूत-भविष्य मनमें ही

हैं। वर्तमानमें जो सृष्टि दिखलायी दे रही है, वह भी मनमें ही दीख रही है।

जब बाहरकी वस्तु भीतर जाकर प्रतिबिम्बित होती है, तब उसका ज्ञान होता है : 'अयं घटः, अयं पटः।' जबतक मनमें प्रतिबिम्बित न हो ले, तबतक घट-पटका पता ही न चले। वस्तुतः हम मानस-सृष्टि ही देखते हैं।

सबके मन पृथक्-पृथक् नहीं हैं, सबके चित्त (संस्कारराशि) इस मनमें ही व्याप्त हैं। संचित संस्कारराशि सबकी पृथक्-पृथक् है। विषय भासनेसे संस्कार बनते हैं और संस्कारसे इन्द्रियाँ। इन्द्रियोंसे विषयका भान होता है। अतः संस्कार और विषय परस्पर कार्य-कारण हैं। इनकी परम्परा अनादि है।

एक मनुष्यको एक महात्मा समझता है, तो एक दुरात्मा। यह महात्मापन या दुरात्मापन दोनों संस्कार-भेदसे देख रहे हैं। जो महात्मा देखता है, उसमें महात्मापनका और जो दुरात्मा देखता है, उसमें दुरात्मापनका संस्कार पड़ा है। इससे सिद्ध है कि कार्य-कारणभाव विषय और संस्कारमें कल्पित है। इससे ज्ञानांश सर्वथा पृथक् है। ज्ञानांशको लेकर मन अमृतस्वरूप है। इसीमें सबके चित्त ओत-प्रोत हैं। सम्पूर्ण वृत्तिज्ञान और विषयोंका आधार हमारा यह मन सर्वज्ञ है। ये ही तो ईश्वरके लक्षण हैं।

ईश्वरमें जैसे भूत, भविष्य, वर्तमानकी उपादानता है, सर्वज्ञता है, अन्तर्यामिता है, वैसे ही तुम्हारे मनमें भी है।

मन अपने इतने निकट है कि यदि उसके रूपमें भगवान् मिल जायँ तो बहुत सुगमता हो जाय। केनोपनिषत्‌में प्रश्न किया है :

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ? किसके भेजनेपर मन विषयोंमें जाता है ? इसका उत्तर दिया : मनसो मनः।

मनके दो भाग कर दिये : एक प्रेर्यं भाग और एक प्रेरक भाग; जैसे कि बौद्ध विज्ञानके दो रूप मानते हैं : १. प्रवृत्ति-विज्ञान और २. आलय-विज्ञान। एक विज्ञान वह है, जिससे घड़ी मालूम पड़ती है, वस्त्र, मनुष्यादि मालूम पड़ते हैं। दूसरा विज्ञान वह है, जो वस्तुओंके पृथक्-पृथक् मालूम पड़नेपर भी अपनेको एक ही जानता है। आलय-विज्ञान अहंरूप है और भिन्न-भिन्न विषयोंमें जाकर उन्हें जाननेवाला मन है। यह अहं और मन दोनों मनके ही भाग हैं।

श्री गौडपादाचार्यने माण्डूक्य-कारिकामें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है। उनमें एक ऐसे सम्प्रदायका उल्लेख है, जो मनको ही ईश्वर माननेवाला था।

मन इति मनो विदुः। बुद्धिरिति च तद्‌विदः।
प्राण इति च तद्‌विदः।

वे कहते हैं : 'मनोवादी मनको ही ईश्वर मानते हैं। बुद्धिवादी बुद्धिको ही ईश्वर मानते हैं। प्राणवादी प्राणको ही ईश्वर मानते हैं।'

ऐसी अवस्थामें ईश्वरके सब लक्षण मनमें घटने चाहिए। मनमें काम, क्रोध, लोभादि आते हैं; किन्तु ये मनके विकार हैं, औपाधिक हैं। देह, इन्द्रियकी उपाधिको मनके साथ जोड़ देते हैं, तब देह एवं इन्द्रियोंकी चेष्टाएँ मनपर आरोपित होती हैं।

उपनिषद्‌में परमात्माका यक्षरूपसे वर्णन है। यक्षकी विशेषता है कि कभी चमकता है तो कभी छिप जाता है। हमारे हृदयमें मनोरूप यक्ष है। वह कभी चमकता है, तो कभी छिप जाता है।

देवासुर-युद्ध होता है तो दैत्य विषय-बलसे लड़ते हैं और देवता आत्मबलसे। कितना अन्न है, धन है, अस्त्र-शस्त्र है, सेना है, इस बाह्य बलसे दैत्य लड़ते हैं। आन्तर बलसे देवता लड़ते हैं कि उन्हें कितना ईश्वरका भरोसा है, उनमें कितनी सात्त्विकता है। बाह्य शक्ति क्षीण होती रहती है पर आन्तर शक्ति बढ़ती रहती है। अतएव अन्तमें विजयी देवता ही होते हैं।

जब देवता विजय पा लेते हैं, तब उन्हें अभिमान होता है कि 'हमने अपने बलसे विजय पायी।' उस समय उनके मध्य यक्ष प्रकट होता है। वह जो यक्ष वहाँ प्रकट हुआ, उसका नाम 'ब्रह्म' कहा गया है। यक्ष्यते इति यक्षः—जिसकी पूजा की जाय।

जैसे आकाशमें बिजली चमकती है, वैसे ही जो हृदयाकाशमें बिजलीकी भाँति चमकता है, वह ब्रह्मका आधिदैविक रूप है। यह ब्रह्मकी अध्यात्म-उपासना है।

हृदयाकाश—चित्ताकाशमें बार-बार संकल्पका स्फुरण होता है। उसकी दशा भी बिजली जैसी है। यह 'मनोब्रह्म' ही चमकता और शान्त होता है। उस चमक या संकल्पमें जो विषयांश है, उसे छोड़ दो। वृत्त्यंश उदित होता और शान्त होता है। ये शान्त और उदित दोनों जिसके रूप हैं, वह मन है। यही मन यक्ष—ब्रह्म है।

सम्पूर्ण विषयोंको मन प्रकाशित करता है। उसे विषयों और इन्द्रियोंसे पृथक् कर तथा विषय एवं इन्द्रिय-सम्बन्धसे उत्पन्न संस्कारोंसे पृथक् कर देखो-तो मनमें जो ज्ञानांश है, वह ब्रह्म ही है।

जैसे 'मैं देह हूँ, इन्द्रिय हूँ' यह एक अध्यास है, वैसे ही 'मैं मन हूँ' यह भी एक अध्यास है। ऐसे ही 'परमात्मा मन है' यह भी एक अध्यास है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति । तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म ॥

यह एक श्रुति है और दूसरी श्रुति है—

मनसा वा इमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति।
मनः प्रयन्त्यभि संविशन्ति। मनो ब्रह्म, तद् विजिज्ञासस्व ॥

इस प्रकार दोनों श्रुतियोंको मिलाकर देखें तो मन परमात्माका रूप स्पष्ट जान पड़ता है।

जब हम सुषुप्तिसे जागे तो सब संस्कार जग गये। ये मनमें ही रहते हैं। मनसे ही, मनमें ही ये जीते हैं; सब मनमें ही तृप्त-पुष्ट हो रहे हैं। सुषुप्तिमें सब मनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। मनमें विषयांश, वृत्त्यंश और ज्ञानांश ये तीन बातें हैं। विषय एवं इन्द्रियोंसे मिल जानेके कारण ये आत्मदेव ही अन्तःकरण प्रतीत होते हैं। इन विषयों एवं इन्द्रियोंसे इन्हें पृथक् कर लो तो वही तुम्हारा स्वरूप है—वह परमात्मा है।

जो तुम्हारे शरीरमें कभी नेत्रमें आकर देखता है, कभी जीभमें आकर स्वाद लेता है, कभी नाकमें आकर गन्ध लेता है, कभी कानमें आकर सुनता है, कभी त्वचामें आकर छूता है, कभी जीभमें आकर बोलता है, कभी हाथमें आकर काम करता है, कभी पैरमें आकर चलता है—इस प्रकार जब उससे शब्द, स्पर्शादिका ज्ञान बनता है, तब उसका नाम 'इन्द्रिय' हो जाता है। जब प्रिय-अप्रियका ज्ञान बनता है, तब उसका नाम 'मैं' होता है। जब कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान बनता है, तब उसीका नाम 'बुद्धि' होता है। जब चिन्तन होने लगता है, तब उसीका नाम 'चित्त' होता है। जब अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानने लगता है, तब उसीका नाम 'जीव' हो जाता है। वही चञ्चल मन है—वही कृष्ण है। •

१८. विभूतिरूप भगवान् : १

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

—१०. २२-२३

भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। प्राणियोंमें चेतना हूँ। रुद्रोंमें शङ्कर हूँ। यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर हूँ। वस्तुओंमें पावक हूँ और शिखरवाले पर्वतोंमें मेरु हूँ।

संसारमें स्थूलभूत हैं और उनके भीतर चेतना है तथा उस चेतनामें संकल्प-शक्ति मन है। भगवान्‌ने कह दिया कि इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ।' अब वे आगे कहते हैं :

भूतानामस्मि चेतना : मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश ये पाँच भूत हैं। इन पाँचोंसे सम्बद्ध एक छठी चेतना है। गीतामें इस चेतनाको 'क्षेत्र' बतलाया गया है :

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

—१३.५-६

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति) दस इन्द्रियाँ, एक मन, इन्द्रियोंके पाँच विषय, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, संघातज चेतना और इन सबकी धारिका शक्ति—यह थोड़ेमें क्षेत्रका वर्णन हुआ, जो विकारवान् है।

इस क्षेत्रमें ही मन है। भगवान्‌ने उस मनको अपनी विभूति बतलाया है। यहाँ चेतनाको परमात्माका चिन्तन करनेका आधार बतला रहे हैं।

यह शरीर वैसे ही संघात है, जैसे मोटर बहुतसे पुर्जोंसे बनी है। नाचनेवाले तलवार पर नाचते हैं, पैरोमें बँधे घुँघुरुओंमें-से एक बजाते हैं। वह शक्ति कौन-सी है, जो सारे संघातमें रहकर उसे वशमें रखती है? वह है चेतना।

मरते समय चेतना प्रत्यक्ष निकलती जान पड़ती है। कभी-कभी स्पष्ट लगता है कि मरनेवालेके पैरसे घुटनोंतक, फिर कमर-तक, फिर वक्षःस्थलतक क्रमशः चेतना लुप्त होती जाती है। इस चेतनामें संकल्प-विकल्प नहीं होते।

यह चेतना ही अन्नमय-कोशमें अन्नमय पुरुष, प्राणमय-कोशमें प्राणमय पुरुष, मनोमय-कोशमें मनोमय पुरुष, विज्ञानमय-कोशमें विज्ञानमय पुरुष और आनन्दमय-कोशमें आनन्दमय पुरुष है। तत्तद् कोशमें आविष्ट चैतन्य पुरुष ही चेतना है। इसमें भगवान्‌का चिन्तन करो। षष्ठी चेतना सप्तमो मनः—शरीरमें पञ्च-महाभूत, छठी चेतना और सातवाँ मन है।

मूर्छामें भी चेतना काम करती है और सुषुप्तिमें भी। उस समय भी बाल बढ़ते हैं, रक्त बहता रहता है। समाधिमें चेतनाका निरोध हो जाता है। नींद टूटनेपर जबतक यह पता नहीं लगता

कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ सो रहा था, अर्थात् निद्रा टूट गयी हो और मन जागा न हो, उस समय सामान्य चेतना स्पष्ट होती है। इसीमें जब मन स्फुरित होगा, तब विशेष चेतना होगी। तब 'मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ, कितने बजे हैं' आदिका पता लगेगा।

मनकी स्फुरणाका आधार चेतना है। शरीरमें चेतनकी प्रथम अभिव्यक्तिका नाम 'चेतना' है और द्वितीय अभिव्यक्तिका नाम है 'मन'। निःसंकल्प, निर्विशेष इसी चेतनामें ब्रह्म-चिन्तन करते हैं। इसीसे सब चेतित होते हैं। 'चिति संज्ञाने'—चेतनाका अर्थ है कि आभास हो, पर विषय न हो।

निद्रा और जागरणकी सन्धिमें, दो वृत्तियोंकी सन्धिमें यह निर्विशेष चेतना रहती है। भगवान् कहते हैं—'यह चेतना मैं हूँ।' वृत्ति-सन्धि तथा निद्रा-जागरणकी सन्धिमें परमात्माका चिन्तन करनेका विधान योगशास्त्रमें विशेष रूपसे वर्णित है।

× × ×

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि : श्रुति कहती है—सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः। हजारों-हजारों अर्थात् लाखों रुद्र हैं। इनके ग्यारह वर्ग हैं। इसीलिए 'एकादश रुद्र' कहे जाते हैं। रुद्र=रुलानेवाला। 'रोदयति असुरानिति रुद्रः'—जो असुरोंको रुलाये, वह रुद्र है। जीवनमें रुलानेके जितने कारण हैं, उनमें रुद्र आते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं मन हूँ, चेतना हूँ और आत्मा भी। भगवान् आनन्दस्वरूप हैं। किन्तु जीवनमें दुःख भी तो बहुत हैं—रुलानेवाले कारण भी बहुत हैं। इन रुलानेवाले कारणोंको क्या कहा जाय ? वैसे तो हम मन, इन्द्रिय और चेतनामें परमात्माको देख सकते हैं; किन्तु दुःख, पीड़ा या रुलानेवालेमें परमात्माको कैसे देखें ?

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि—शम् = कल्याण + कर = हाथमें। जो अपने हाथमें लोगोंका कल्याण रखे। 'शं करोति इति शङ्करः'—जो कल्याण करे, वह शङ्कर है। संसारमें वैराग्यका कारण दुःख ही है। जहाँ-जहाँ रुद्र या रुलानेका कारण होता है, वहाँ अपनी मुट्ठीमें कल्याण लेकर शङ्कर खड़े रहते हैं। सभी रुलानेवाले प्रसंगोंमें हमारा कल्याण निहित है। अर्थात् जब-जब तुम रोते हो, तो आगे हँसना आनेवाला ही है। यह दुःख ईश्वरकी ओरसे चोट है : 'तुम संसारमें फँस रहे हो, इधरसे लौटो!'

एक महात्माने मुझे बचपनमें बतलाया : 'जब-जब मनमें काम या लोभ अथवा मोह आये, भगवान्‌के रुद्ररूपका ध्यान करो। गलेमें आँतोंकी माला डाले भयंकर नृसिंहरूपका ध्यान करो। भगवान्‌के जितने भयंकर रूप हैं, वे सब हमारे मनको निष्काम बनानेके लिए ही हैं।'

'रुद्रोंमें—रुद्रोंसे सम्बद्ध मैं शंकर हूँ।' हमें रुद्रके दर्शन होते हैं, पर उसमें जो शंकर है, वह हमें नहीं दीखता।

> रौति इति रुद्रः। रोरूयमाणो द्रवतीति रुद्रः।
> रोदयते इति वा रुद्रः। —निरुक्त

अर्थात् जिसके कारण शब्द, चीख या पुकार होती है, वह रुद्र है। स्वयं जो चिल्लाता हुआ भागता है, मेघ-गर्जन करता हुआ दौड़ता है, वह रुद्र है। जो असुरों, शत्रुओंको रुलाता है वह रुद्र है।

भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन! अमृत भी मैं हूँ और मृत्यु भी मैं। सत् मैं हूँ और असत् भी मैं' :

> अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

जब रुद्र मृत्यु, रोग और वियोगका रूप धारण करके आता है—जब जीवनमें चारों ओर घटाएँ घिर जाती हैं और अन्धकार छा जाता है, वज्र गिरनेवाला होता है, 'अब मरे, तब मरे' लगता है, जैसे कि अर्जुनके जीवनमें विषाद छा गया, तब उन विपत्तियोंमें ही भगवान्‌का प्रसाद भी आता है। अर्जुनके विषादसे भगवान्‌के हृदयमें करुणाका उदय हुआ और वह करुणा गीताके रूपमें मूर्त हुई। वहाँ विषादके रूपमें रुद्र आये तो शंकरके रूपमें आयी गीता।

जब-जब जीवनमें दुःख, मृत्यु, वियोग, रोग, शोक आता है, तब-तब इन रुद्रोंके रूपमें वहाँ शंकर होते हैं। अतः दुःखसे कभी हार मत मानो।

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

महाकवि कालिदास कहते हैं कि संसारमें ऐसा कौन है, जिसके जीवनमें सुख हो सुख या दुःख ही दुःख भरा हो। ये तो रथके पहियेके समान ऊपर-नीचे होते रहते हैं। हर मृत्युमें जीवन है तो हर वियोगमें संयोग। हर रोगमें स्वास्थ्य है, तो हर दुःखमें सुख।

एक सज्जन घोर वनमें गये। वहाँ हिंसक जन्तु शेर, रीछ, चीते थे। नीचे खण्डमें नदी बहती थी। बड़े दुःखी हुए। लगा—'रात बीतेगी ही नहीं।' व्याकुल मनमें आया—'आओ, नदीमें कूदकर मर जायँ।' नदीमें कूदनेको उद्यत हुए तो देखते हैं कि भगवान् शंकर चले आ रहे हैं। भगवान् बोले : 'यह क्या करते हो? सारी रात तो तुमने बिता दी। अब केवल दो घड़ी रह गयी है। भले ही अन्धकार वैसा हो; किन्तु काल तो बीत गया।'

ये जो दुःख, मृत्यु आदि हैं, उनमें भी कल्याणकारी शक्तियाँ काम करती हैं। शिवके ग्यारह रूपोंका ही नाम रुद्र है। इसका अर्थ है कि रुद्रका रुद्रत्व वस्तुतः शंकरत्व है। जब सृष्टिके लोग ईश्वर विमुख, भोगपरायण हो जाते हैं, एक दूसरेकी हिंसा करने लगते हैं, तब ईश्वर रुद्ररूपमें आता है।

सृष्टि तो इसीलिए है कि लोग भजन-साधन करें और जन्म-मृत्युके दुःखसे सदाके लिए छूटनेका प्रयत्न करें। ईश्वरने इसी संकल्पसे सृष्टि की है। अज्ञान-निद्रामें प्रलयकालमें सुप्त जीवोंको ईश्वरने तत्त्वज्ञान सम्पादन कर अपना कल्याण-साधन करनेके लिए ही जगाया था।

लेकिन जीव बहिर्मुख हो जाते हैं, तब ईश्वर रुद्ररूप धारणकर प्रलय कर देता है कि इन्हें थोड़ा विश्राम कर लेने दो। विश्राम करके उठेंगे, तब फिर अपने साधन-भजनमें लगेंगे। जैसे कोई थके अनिद्रारोगीको सुला दे या पके-सड़े अंगको काट दे, वैसे ही रुद्रभगवान् प्रलय-निद्रामें सबको सुला देते हैं।

यह बात आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टिसे कही गयी। आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो शरीरमें ग्यारह रुद्र हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन। ये सब अन्तरात्माको नहीं देखते, बाहर संसारमें जाते हैं। भीतर बैठे हैं भगवान् शंकर—आत्मदेव। उनके ये आवरण बन गये हैं।

बुरे काम करके हाथ रुलाता है, बोलकर वाणी रुलाती है। दुःख इन इन्द्रियों और मनद्वारा ही भीतर आता है। ये ही रुलानेवाले रुद्र हैं। ये दूसरोंको तो रुलाते ही हैं—स्वयंको भी रुलाते हैं। कान रुलाता है—शब्दमें फँसता है। नेत्र रुलाते हैं—रूपमें फँसते हैं।

इन्द्रियाणि दशैकञ्च—यह क्षेत्र है। इस क्षेत्रके भीतर जो क्षेत्रज्ञ है, वह शंकर है। देह, इन्द्रिय, मनका बाध कर देनेपर जो इनमें व्याप्त, इनका अधिष्ठान है, वही शंकर है वही परमात्मा है।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि : यदि दुःख देरतक रहे तो मनुष्य या तो दुःखसहिष्णु बन जायगा या दुःखसे तटस्थ हो जायगा। यदि दुःखसे मर ही जाय, तो भी नया शरीर पायेगा। सहिष्णु होनेका स्वभाव पड़ जाय, तो भी दुःख कल्याणकारी है। दुःख ही दुःख देखकर तटस्थ हो जायँ तो भी कल्याण हो जाय। अतः भगवान् सम्पूर्ण रुद्ररूपोंमें शंकर, मंगलमय हैं।

सायणने अपने भाष्यमें लिखा है : वेदोंमें जितने मन्त्र उत्तम पुरुषके प्रयोगमें आते हैं, वे सब आध्यात्मिक होते हैं। जैसे वामदेव कहते हैं : अहं मनुरभवं सूर्यश्च। अब वामदेव व्यक्ति तो न कभी मनु हुआ, न सूर्य। वामदेवकी आत्मा जैसे वामदेव रूपमें प्रकट है, वैसे ही मनु और सूर्यके रूपमें भी प्रकट है।

विषय ग्यारह हैं—कानका शब्द, त्वचाका स्पर्श, नेत्रका रूप, रसनाका रस, नासिकाका गन्ध, पैरका गन्तव्य, हाथका कर्तव्य, मलद्वारका उत्सर्ग, वाणीका वक्तव्य, उपस्थका भोक्तव्य और मनका मन्तव्य। ये सब रुद्र हैं। इनमें शरीर शिव है।

दस प्राण और मन ये रुद्र हैं, तो आत्मदेव शिव हैं। अथवा इन्द्रियाँ और मन रुद्र हैं, तो इनमें प्राणशक्ति है शिव। इस प्रकार माया और मायाकी एकादशधा सम्पूर्ण वृत्तियोंमें आत्मदेव शिव हैं।

× × ×

वित्तेशो यक्षरक्षसाम् : ब्रह्माजीने सन्तानें पैदा कीं, तो वे उन्हींको खाने दौड़ीं। उनमेंसे कुछने कहा : 'इसे खा लो।' कुछने

कहा : 'खाओ मत, इसकी रक्षा करो।' जिन्होंने कहा : 'यक्ष = खा लो', उनका नाम 'यक्ष' पड़ा। जिन्होंने कहा : 'रक्ष = रक्षा करो', उनका नाम राक्षस हुआ।

आपके घरमें पैसा आया तो कुछ लोग कहेंगे : 'इसे बचाकर रखो।' ये राक्षस हैं। ये अर्थ-परायण हैं। ये न दूसरोंको खाने देते हैं और न स्वयं खाते हैं।

दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।

धनकी तीन ही गतियाँ होती हैं : १. दे दो तो दूसरेके काम आये। २. न दो तो स्वयं भोगो। ३. दोनों नहीं करोगे तो अन्तमें वह नष्ट हो जायगा। जो न स्वयं खाते हैं, न किसीको खाने देते हैं, केवल धनके चौकीदार बने रहते हैं, वे राक्षस हैं। वे स्वयं कष्ट सहते हैं और दूसरोंको भी कष्ट देते हैं।

दूसरे प्रकारके लोग यक्ष हैं, जो कहते हैं : 'हम तो मौज कर लें, दूसरोंको मिले या न मिले।'

ये यक्ष और राक्षस दोनों उपदेवता हैं।

एक मनुष्य भोग करता है, तो उसमें दूसरेको भी भोग मिलता ही है। एक मनुष्य अच्छे वस्त्र पहनेगा तो उससे बुनकरको, दर्जीको, रुई बोनेवाले किसानको भी जीविका मिलेगी। भोगमें प्रकारान्तरसे दूसरोंके लिए धनका बँटवारा होता है। कोई शराब पीता है, तब भी बोतल बनानेवालेसे लेकर किसानतकको उसके धनका कुछ न कुछ अंश जाता है। जो धन पाकर भोग भी नहीं करते, वे राक्षस हैं।

लेकिन यक्ष-राक्षस दोनोंमें धर्म नहीं है। भगवान् कहते हैं : 'इनमें मैं वित्तेश कुबेर हूँ।'

'कुबेर'का शाब्दिक अर्थ है सुरूप। कु=बुरा+बेर=शरीर। देखनेमें असुन्दर। कुबेरके पास कुछ नहीं था। उन्होंने भगवान् शंकरकी आराधना की। तब शंकरजीने उन्हें लोकपाल-धनाध्यक्ष बना दिया। धन एवं भोगोंमें लगे लोगोंमें कोई ऐसा निकल आये कि वह अपनी सम्पत्ति ईश्वरकी दी हुई माने, तो उसके मनमें, जीवनमें सर्वत्र ईश्वर ही भरपूर हो जायगा।

वित्तेशो यक्षरक्षसाम् : मणिभद्रादि यक्ष हैं और हेति-प्रहेति आदि राक्षस हैं। कुबेर न यक्ष है, न राक्षस। ये विश्रवा मुनिके पुत्र हैं। विश्रवा मुनिकी एक पत्नीसे कुबेर हुए, तो दूसरी पत्नीसे रावण-कुम्भकर्ण और तीसरी पत्नीसे विभीषण।

यक्ष भोग-पुरुषार्थी हैं तो राक्षस अर्थ-पुरुर्थी। इनका चिन्तन मत करो। इनसे सम्बद्ध वित्तेश्वर, यक्षेश्वर कुबेर धर्म-पुरुषार्थी हैं। भगवान् शंकरने इन्हें वरदान दिया।

निधीनामधिनाथस्त्वं गुह्यकानां भवेश्वर।
यक्षाणां किन्नराणाञ्च तथा राज्ञाञ्च सुव्रत।
पतिः पुण्यजनानां च सर्वेषां धनदो भव॥

'उत्तम व्रत करनेवाले कुबेर! तुम निधियोंके स्वामी, गुह्यकोंके नाथ, यक्ष-किन्नरोंके एवं राजाओंके अधिनाथ हो जाओ। पुण्य-जनोंके स्वामी और सबको धन देनेवाले होओ।'

वित्तेश धनको अपना नहीं मानते—देते रहते हैं। वित्तमें केवल जानकारीका सुख है कि 'हमारे पास इतना है।' यह अभि-मान मात्रका सुख है।

जो धनका सदुपयोग करता है, वह 'वित्तेश्वर' है। जो धनका संग्रहमात्र करता है, वह 'वित्तदास' है। गेहूँ उत्पन्न करनेका अर्थ यह नहीं कि किसान उसे घरमें रखकर सड़ा डाले। इसी तरह रुपया पैदा करनेका यह अर्थ नहीं कि वह भूमिमें गड़ा रहे या बैंकमें जमा रहे।

'वित्त=ज्ञान, विद् लाभे, विद् ज्ञाने' : धन उसे कहते हैं, जिसके मिलनेसे और जिसकी जानकारीसे सुख होता है। जो उसे देता नहीं, भोगता नहीं, वह तो वित्तदास है।

संन्यासियोंके यहाँ प्रायः पुष्पाञ्जलिमें एक मन्त्र पढ़ा जाता है :

राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु॥

अपनी समझमें कभी नहीं आया कि यह मन्त्र संन्यासी क्यों बोलते हैं; क्योंकि इसका अर्थ है : 'राजाधिराज, अमित तेजस्वी सम्राट्, वैश्रवण कुबेरजीको हम नमस्कार करते हैं। आप वैश्रवण कामेश्वर हैं और मैं कामकामी हूँ। आप मेरी कामनाओंको पूर्ण करो।'

मैं घर-द्वार छोड़कर हरिद्वार-ऋषिकेश सत्संगके लिए जाता था। वहाँ यह बोलना पड़ता तो चित्त ग्लानिसे भर जाता था।

अपने पास धन है, यह जानकर और स्वयं भोगकर भी जो प्रसन्न नहीं होता—दूसरोंको देकर जो प्रसन्न होता है, वह वित्तेश है।

वैश्रवण : जिसका विशेष श्रवण हो, अर्थात् यशस्वी।

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमा यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥

अर्थात् गुणियोंकी गणना प्रारम्भ होनेपर यदि अँगूठा जिसका नाम लेकर तर्जनीकी पहली गाँठपर न पड़े अर्थात् जिसका नाम प्रथम न आये, ऐसे पुत्रसे भी यदि माताको पुत्रवान् माना जाय, तो फिर वन्ध्या कौन होगी, यह तो बतलाओ ।

देनेमें आनन्द पाना और पालन परमेश्वरका धर्म है । जिसमें यह अभिमान नहीं कि 'धन मैंने परिश्रम करके पाया है', जो मानता है कि 'धन मेरे आराध्यने दिया है, धन मेरा नहीं, भगवान्का है, भगवान्की प्रजामें बाँटनेके लिए ही मेरे पास है' वह वित्तेश है । उस वित्तेशमें परमात्माको देखो ।

भोग और संग्रहसे ऊपर उठकर जो दान करेगा, उसमें त्यागकी सच्ची प्रेरणा आयेगी । दानका अर्थ है कि जिस वस्तुको हम देते हैं, उसे मूल्यवान् समझते हैं । अतएव अपनी ममता उसपरसे हटाकर दूसरेका ममत्व स्थापित करते हैं । त्यागमें वस्तुको मूल्यवान् नहीं मानते । मैंने ही छोड़ दिया तो उसपर दूसरेका ममत्व स्थापन करना योग्य नहीं है । दान करनेसे त्यागकी प्रेरणा मिलती है और त्यागसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ।

× × × ×

वसूनां पावकश्चास्मि : वसु-शब्द पानी, धन और मणिके अर्थमें आता है : वसु तोये धने मणौ । वसु देवताओंका एक वर्ग है जो आठ हैं ।

पावकका मुख्य अर्थ है अग्नि । जितनी सम्पत्ति है, उसमें भगवान् अग्नि बनकर हैं, अर्थात् उससे जलन होगी ।

पावक=पवित्र करनेवाला। सम्पत्ति मिली है तो धर्म करके उससे अपनी आत्माको पवित्र करो।

धरा, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभात ये आठ वसु हैं। इन आठोंमें पावक अर्थात् 'अनल' नामक वसु भगवान् अपनेको बतलाते हैं। भगवान्ने पावकको क्यों पसन्द किया?

'धरा' वसु अर्थात् धन है। पृथ्वीको वसुन्धरा—धनको धारण करनेवाली कहते हैं। वह रत्नगर्भा है। सोना, चांदी, हीरा आदि सब उसीसे निकलते हैं। 'ध्रुव'=अधिक दिनका जीवन। 'सोम'= आह्लाद देना। 'अहः'=प्रकाश। 'अनिल'=प्राणवायु। 'अनल'= तेजकी देवता। 'प्रत्यूष'=ब्राह्म-मुहूर्त। 'प्रभात'=प्रकाशक। ये सब वसु हैं, अर्थात् ये जीवनके लिए आवश्यक हैं।

इनमेंसे भगवान्का चिन्तन किसमें करें? भगवान् तो सबमें हैं; किन्तु शालग्रामकी मूर्ति ही पूजी जाती है। ऐसे ही वसुओंमें पावक, अग्नि भगवान् हैं। घरमें अग्निका बना रहना बहुत बड़ी सम्पत्ति है।

रोटी बनानेकी आग गृह्याग्नि' है। हवन करनेकी आग 'आह-वनीय' अग्नि है। चिताकी आग 'दक्षिणाग्नि' है। विवाहमें जिस अग्निकी प्रदक्षिणा होती है, वह 'प्राजापत्याग्नि' है। सूर्यके रूपमें 'सूर्याग्नि' और 'विद्युदग्नि' है।

अग्नि शुद्ध करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। बर्तन अशुद्ध हो जानेपर आगमें डालनेसे शुद्ध होता है। पावकका अर्थ ही है पवित्र करने-वाला, अशुद्धको शुद्ध करनेवाला, कच्चेको पक्का बनानेवाला, प्रकाश देनेवाला, नेत्रको ज्योति देनेवाला अग्नि है। स्वर्णके रूपमें

अग्नि है। पेटमें भोजन पचानेवाला 'जाठराग्नि' अग्नि है। इन सब रूपोंमें ईश्वर है। भगवान् कहते हैं :

> अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
> प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

'मैं वैश्वानर बनकर प्राणियोंके देहमें स्थित हो प्राण-अपानके साथ खाये हुए चारों प्रकारके भोजनोंको पचाता हूँ।' अतः हम जो भोजन करते हैं, वह भगवान्के मुखमें ही डालते हैं।

बिना गर्मीके न जीवन चलता है, न व्यवहार। वाक्का अधिष्ठाता देवता अग्नि है। हम बोलते कैसे हैं?

> मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
> मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥

अर्थात् मन शरीरके अग्निपर चोट करता है, उससे प्राणवायुमें गति आती है। वह प्राणवायु जीभको हिलाता है, तब शब्द निकलते हैं।

विज्ञान भी मानता है कि हम जो भोजन करते हैं, उससे उत्पन्न उष्णता ही शरीरको चलाती है। थर्मामीटरसे जब शरीरका तापमान लेते हैं, तो वह शरीरकी उष्णता बतलाता है। शरीरमें ताप है, तभीतक आप जीवित हैं। इस ऊष्माके रूपमें शरीरमें भगवान् ही स्थित हैं।

प्राणो ब्रह्म इत्युपासीत—प्राणाग्नि हमारे शरीरमें है। अतएव हम भोजन करते हैं तो पञ्चाहुति देते हैं :

१. ॐ प्राणाय स्वाहा। २. ॐ अपानाय स्वाहा। ३. ॐ व्यानाय स्वाहा। ४. ॐ उदानाय स्वाहा। ५. ॐ समानाय स्वाहा।

इसका अर्थ होता है : 'अहं भोक्ता न भवामि। प्राण एव भोक्ता।'—मैं भोक्ता नहीं, प्राण ही भोक्ता है। यह अन्नरूप ईंधन मुझमें नहीं, प्राणाग्निमें डाला जा रहा है। प्राण अग्नि है। वह भीतरकी गन्दगीको श्वासों बाहरसे फेंक देता है।

'कामाग्नि' और 'क्रोधाग्नि' हानिकारक हैं। ये हमारी ही असावधानीसे उत्पन्न होते हैं। 'प्रेमाग्नि' भी अग्नि है। जैसे अग्नि अपने अतिरिक्त सबको भस्म कर देता है, वैसे ही प्रेम ईश्वरके अतिरिक्त सबको भस्म कर देता है।

सबसे श्रेष्ठ वसु द्रोण थे—द्रोणो वसूनां प्रवरः।' उनकी पत्नीका नाम 'धरा' था। द्रोण=अन्न। आठ वसुओंमें पावक नामक वसुका ही नाम किसी कल्पमें द्रोण था। वे नन्दबाबाके रूपमें प्रकट हुए। उनकी पत्नी धरा यशोदा हुई। उनके पुत्र हुए श्रीकृष्ण।

हृदयमें भरे कूड़ेको जलाकर जो भस्म कर दे, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाय और उसमें ईश्वर आ जाय, वह 'प्रेमाग्नि' है।

भागवतमें हृदयमें भगवान्‌का ध्यान करनेका वर्णन है। वहाँ अवकाशात्मक स्थान है। उसमें हृदयकमलकी कर्णिकापर सूर्यका, सूर्यमें चन्द्रमाका, चन्द्रमामें अग्निका और अग्निमें भगवान्‌का ध्यान करनेको कहा गया है :

अग्निमध्ये स्मरेद् रूपमभेदं ध्यानमङ्गलम्।

पहले अन्धकार-अज्ञानको मिटाओ। यह काम सूर्यदेवने किया। फिर दुःखको मिटाओ। यह काम चन्द्रने किया। अब अग्निका ध्यान किया तो उसने कर्म-मलको भस्म कर दिया। उस अग्निमें भगवान्‌का ध्यान करो।

भावुक भक्त अग्निमें भगवान्‌का ध्यान करनेमें झिझकते हैं कि 'भगवान् तो अतिशय सुकुमार हैं। क्या अग्निमें उनकी भावना उचित है?' तब इस श्लोकका आध्यात्मिक अर्थ करना पड़ता है : नेत्रसे ध्यान करना सूर्यमें ध्यान करना है। मनसे कल्पना करना चन्द्रमामें ध्यान करना है। शब्दानुपाती ध्यान अर्थात् शास्त्रोक्त शब्दोच्चारण कर, भगवन्नाम लेकर ध्यान करना अग्निमें ध्यान करना है।

योगियोंकी मान्यता है कि मणिपूरक (नाभिचक्र) अग्नि-स्थान है। वहाँ एक त्रिकोण है, जो चिन्मय है। उसमें यज्ञका ध्यान किया जा रहा है :

ॐ अविद्यां जुहोमि स्वाहा। ॐ अस्मितां जुहोमि स्वाहा। ॐ रागं जुहोमि स्वाहा। ॐ द्वेषं जुहोमि स्वाहा। ॐ अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा।

इस प्रकार पञ्चक्लेशोंकी आहुतियोंकी भावना की जाती है। भगवान् शंकराचार्यने यहाँ २८ आहुतियाँ लिखी हैं।

धर्माग्नि : यह नरक और पापको भस्म करके स्वर्ग देता है। 'योगाग्नि' चित्तकी चञ्चलता भस्मकर समाधि देता है। 'प्रेमाग्नि' मोह भस्मकर भगवत्प्रीति देता है। 'ज्ञानाग्नि' सब कर्मोंको, अने-कताके भ्रम एवं प्रपञ्चकी सत्यताको भस्म कर देता है :

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

स्वर्गधन, धर्मधन, योगधन, प्रेमधन, ज्ञानधन—ये सब धन हैं। शरीरमें जो अग्नि है, वह धन है। संसारमें जितने सारे धन हैं, उनमें अग्नि सबसे मूल्यवान् है। उसका अनुसन्धान करो तो अन्तमें

परमात्माको प्राप्ति होगी; क्योंकि पावक वह है जो सबको पवित्र करे। सबसे बड़ा पवित्र करनेवाला भगवान्‌का स्मरण ही है।

शास्त्रोंमें वर्णन है कि पहले कोई चोरी आदि करके कहता कि 'मैंने नहीं की है' तो उससे शपथ-विधि करायी जाती थी। अग्निकी पूजा करके उसके हाथपर पीपलका पत्ता रखकर उसपर अग्नि रखा जाता था। वह पवित्र होता, सच्चा होता तो अग्नि उसका हाथ नहीं जलाता था।

ये अग्निदेव शपथसे पवित्र करते हैं, दोष भस्म करके पवित्र करते हैं। मरते समय मनुष्यके मुखमें तुलसी-सोना दिया जाता है। सोना अग्निरूप है, उसे पवित्र करनेके लिए मुखमें देते हैं।

अग्ने नय सुपथा राये।—ईशावास्योपनिषत्

यहाँ अग्निके रूपमें परमात्माको ही सम्बुद्ध किया गया है। अग्निमें तीन तत्त्व हैं: एति अनक्ति नयति। १. जहाँ अग्नि जलता है। प्रकाश हो जाता है, अर्थात् ज्ञान देना अग्निका एक गुण है: 'एति'। २. 'अनक्ति': किसीमें कोई वस्तु मिली हो, जैसे सोनेमें ताँबा तो अग्नि उसे पृथक् कर देता है। ३. 'नयति': एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचाता है। जैसे—रेल, मोटर आदि अग्निसे चलती हैं।

अग्रणीर्भवति, अग्रे प्रणीयते, अङ्गं नयति इति वा अग्निः।

याज्ञिक लोग कहते हैं: 'अग्नि आगे-आगे चलता है। आगे लाया जाता है और स्नेहको सुखाता है।'

अग्निकी उपासना राग-द्वेष मिटाती है। परमात्मा संसारके राग-द्वेषको मिटानेवाला है। अतः परमात्माका एक नाम 'अग्नि'

है। ऋग्वेदके पहले मन्त्रमें अग्निमीळे पुरोहितम् में अग्निके नामसे परमात्माकी ही स्तुति है।

अज्ञानान्धकारको वृत्ति नहीं दूर कर पाती, वृत्त्यारूढ़ चैतन्य ही अज्ञानका निवर्तक है। अविद्यानिवृत्ति कर ज्ञानाग्नि बुझ जाता है—वृत्ति शान्त हो जाती है तो इसे ईश्वर कैसे मानें? ईश्वर तो नित्य है। अतः—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥

ब्रह्म अग्नि है। अग्निमें जो डालो, उसे भस्म कर देता है, इसी प्रकार दृश्यादृश्यसे, विदिताविदितसे विलक्षण ब्रह्माग्नि सम्पूर्ण द्वैतको, अविद्याको, द्वैतसत्त्वापादिका भ्रान्तिको, द्वैत-विस्तारिणी मायाको भस्म कर देता है। ऐसा ब्रह्म अग्नि है।

वसूनाम्: वसन्त्यस्मिन्निति वसुः अधिष्ठानम्—वसु अर्थात् जिसमें सब बसते हैं, वह अधिष्ठान। जितने वस्तुओंके आधार हैं, उनमें पावक, ब्रह्माग्नि परमात्मा है।

चिन्तन करो कि घट-पटादि सब वस्तुओंका आधार पृथ्वी है। पृथ्वीका आधार जल है। जलका आधार अग्नि है। अग्निका आधार वायु है। वायुका आधार आकाश है। आकाशका आधार अहंतत्त्व है। अहंतत्त्वका आधार महत्तत्त्व है। महत्तत्त्वका आधार अव्याकृत (प्रकृति) है। अव्याकृत (प्रकृति) माया है। माया ब्रह्ममें कल्पित है।

सभी दृश्य विषयोंका आधार इन्द्रियाँ है। इन्द्रियोंका प्राण प्राणका मन, मनका बुद्धि और बुद्धिका अहं आधार है। अहंका

आधार अविद्या है। अविद्याके कारण ही आत्मामें बीज-विशिष्टता तथा भेद-प्राप्ति है। जब आत्मज्ञानसे अविद्या मिट गयी तो वही अखंड, अद्वय, ब्रह्म मैं हूँ जो सम्पूर्ण आधारोंका भी आधार स्वयं निराधार हैं, जिसमें आधार-आधेयकी कल्पना नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण वसुओंमें पावकरूपमें परमात्माका चिन्तन करना चाहिए।

मेरुः शिखरिणामहम् : 'चोटीवाले पर्वतोंमें मैं मेरु हूँ।'

इस विषयमें भारतीय धारणा है—क्षार-समुद्रसे वेष्टित सम्पूर्ण भूभाग जो आज उपलब्ध है, उसे प्राचीन कालमें भारतवर्ष कहते थे। हिमालयसे लेकर इन्दुपर्वतपर्यन्त ! (कन्याकुमारीके पासतक) भाग 'हिन्दुस्थान' है। इतना विशाल भरतखण्ड है।

मेरु पर्वतकी आठ दिशाओंमें आठ उपद्वीप हैं, मानो वे कमलकी आठ पंखड़ियाँ हों। उनके मध्य कर्णिकाके स्थानपर मेरुपर्वत है। उसके चारों ओर मञ्जरीके समान पर्वत हैं। उनमें से हिमालय दक्षिणमें है। यह मेरुपर्वत १६ हजार योजन भूमिके नीचे और सोलह हजार योजन ऊपर है। यह स्वर्ण-पर्वत है। इसके तीन शिखर हैं। उनमेंसे एक शिखरपर ब्रह्माजीकी पुरी है, एकपर शंकरजीकी पुरी है और एकपर विष्णु भगवान्‌की पुरी है।

मेरुः सुमेरुः हेमाद्रिः रत्नसानुः सुरालयः—अमरकोशमें ये मेरु-पर्वतके नाम दिये हैं। मेरुका अर्थ है रत्नके समान चमकनेवाला। मालामें भी सुमेरु होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें जब नैमित्तिक प्रलय होता है तब भी मेरुपर्वत नहीं डूबता।

आप मान लें कि आपका निवास हृदयमें है। इस सृष्टिका हृदय भारत है। पीठकी रीढ़को 'मेरुदण्ड' कहते हैं। यह मूलाधार-

चक्रसे लेकर सिरतक है। इसमें नेत्रमें सूर्य, नाकमें अश्विनीकुमार, जिह्वाग्रपर वरुण, जिह्वामूलमें अग्नि, मनमें चन्द्र, कानमें दिशा, त्वचामें वायु, हाथोंमें इन्द्र, पैरोंमें उपेन्द्र—इस प्रकार सब देवता मेरुदण्डके आधारपर शरीरमें टिके हैं। इसमें इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ इसका शिखर हैं। यह बाहरसे भीतर आनेकी प्रक्रिया है।

सत्त्व, रज, तमस् ये तीन शिखर मेरुके हैं। इनपर ब्रह्मा, शिव और विष्णुकी पुरियाँ हैं।

आकाशमें जो तारे हैं, उनका एक शिशुमार-चक्र बनता है। इन सब ज्योतिर्मय तारोंमें भगवान् मेरु हैं।

डुमिञ् प्रक्षेपणे, मिनोति प्रक्षिपति ज्योतींषि इति मेरुः। —मेरुका अर्थ है, जिससे सारे शरीरमें, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें ज्योतिकी किरणें फैलती रहती हैं, वह मेरु परमात्मा है।

१६. विभूतिरूप भगवान् : २

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥–१०.२३

पार्थ ! पुरोहितोंमें मुख्य मुझे बृहस्पति जानो। सेनापतियोंमें मैं कार्तिकेय हूँ और सरोवरोंमें हूँ सागर।

पुरोधसां च मुख्यं माम् : भगवान् अब एक व्यक्तिका नाम लेते हैं। इसका अर्थ है कि भारतीय संस्कृतिमें पुरोहित-वृत्ति बहुत प्रधान है।

पुरोहित = जो पहले ही यजमानका हित सोचे और करे। यजमानको पता नहीं कि किस मासमें क्या करना चाहिए, कब एकादशी आदि पर्व हैं। पुरोहित पहलेसे देखकर यजमानको बतलाते हैं। गीतामें लुप्तपिण्डोदकक्रियाः से श्राद्धका भी वर्णन है। यह श्राद्ध भी पुरोहित ही करवाते हैं।

पुरो नीयते इति पुरोधा : जो आगे-आगे चले, वह पुरोहित है। पुरोहित तो पहले सभीके होते थे। महाराज जनकके पुरोहित थे शतानन्द तो दशरथजीके महर्षि वशिष्ठ। भगवान् पुरोहितोंमें स्वयंको मुख्य बृहस्पति बतलाते हैं।

वेदमें अग्निको 'पुरोहित' कहा है। वैसे अग्नि और ब्राह्मण भाई-भाई हैं, क्योंकि भगवान्‌के मुखसे ही अग्नि और ब्राह्मणकी उत्पत्ति हुई है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।···मुखादग्निरजायत।

बृहस्पतिम् : बृहतां पतिः बृहस्पतिः—जो बृहत्का स्वामी है, वह बृहस्पति है। सात दिनोंमें एक दिन बृहस्पति है। नौ ग्रहोंमें एक ग्रह बृहस्पति है। देवताओंके गुरु, पुरोहित बृहस्पति हैं। ज्योतिषमें बृहस्पतिका एक नाम 'जीव' भी है :

बृहतां तपसानेन बृहतां पतिरस्यहो।
नाम्ना बृहस्पतिरिति ग्रहेष्वर्च्यो भविष्यति॥

अर्थात् भगवान् शंकरने इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर कहा कि 'सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता होनेके कारण तुम्हारा नाम बृहस्पति है। नवग्रहोंमें तुम्हारी पूजा हुआ करेगी।'

यहाँ गीतामें बृहस्पतिका वर्णन ग्रहरूपमें नहीं, पुरोहितके रूपमें है। बृहत्=वेदमन्त्र; उसका ज्ञाता बृहस्पति।

बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः।
तमनुमन्ये राज्ञां पुरोहिताः॥

—ऐतरेय ब्राह्मण

'बृहस्पति देवताओंके पुरोहित हैं। दूसरे राजाओंके पुरोहित लोग उनके पीछे चलते हैं।'

इन्द्रने युद्धमें असुरोंको जीत लिया। चाहे कितना ही बड़ा असुर हो—मानसिक-जगत्में काम-क्रोधादि या बाह्य-जगत्में असुर हों, मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो उसपर विजय पा सकता है। अतः हाथका देवता इन्द्र असुरोंपर विजयी होता है। बृहस्पतिकी सलाहसे इन्द्रने यह विजय प्राप्त की; किन्तु विजयी होनेपर इन्द्रको गर्व हो गया।

यजमान-पुरोहित या गुरु-शिष्य के सम्बन्धमें गुरु या पुरोहितके लिए एक संकट है और वह है, लेन-देनका सम्बन्ध। यजमान समझता है कि पुरोहित या गुरुजी हमारे घर आते हैं और कर्मकाण्ड कराते हैं तो पैसेके लिए। यह भाव शिष्यकी श्रद्धा घटाता है। इसीलिए शास्त्रोंने पौरोहित्य-कर्मको निन्दित बतलाया है।

इन्द्र विजयी होकर राजा हुए। बृहस्पति इन्द्रकी सभामें गये। विजयसे पूर्व इन्द्र स्वयं गुरुके यहाँ जाते, प्रणाम करते और नीचे बैठते थे। अब बृहस्पति आये तो खड़े रहे, किन्तु इन्द्रने उनकी ओर ध्यानतक नहीं दिया। उठना और प्रणाम करना तो दूर ही रहा। फल यह हुआ कि बृहस्पति अन्तर्धान हो गये। अपना घर, परिवार, सम्पत्ति सब छोड़कर लुप्त हो गये।

बृहस्पतिके लुप्त हो जानेसे इन्द्रको जो वैदिक संरक्षण प्राप्त था, वह छिन गया। असुरोंको इसका पता चला, तो उन्होंने देवताओंपर आक्रमण कर उनको जीत लिया। देवता हार गये। असुर देवताओंके बड़े भाई हैं। असुर ज्येष्ठ हैं तो देवता कनिष्ठ हैं। मनमें काम, क्रोध, लोभादि तो पहलेसे हैं, स्वतः आते हैं। यम-नियमादि संस्कार डालकर उन्हें रोका जाता है। देवत्वका संस्कार तो पूरे जीवन ही बृहस्पतिके अधीन है। गुरु न हों, वेद न हो तो संस्कार पड़ेंगे कहाँसे? गुरु-शास्त्रसे विमुख होनेपर लोग प्रकृतिसे आये विकारोंमें लिप्त हो जाते हैं।

अब देवताओंने विश्वरूपको गुरु बनाया, अर्थात् संसारको देख-देखकर, प्रयोगकर चलने लगे। संसारसे शिक्षा लेकर विजयी भी हुए; किन्तु विश्वरूपके तीन सिर थे—सात्त्विक, राजस और तामस। संसारमें ये तीनों गुण हैं। विश्वरूप एक मुखसे यज्ञ करायें, दूसरे मुखसे अन्न खायें और तीसरे मुखसे सुरापान करें। संसारको

जो देखेगा, वह संसारके विकारोंको महत्ता देगा। विश्वरूपके विज्ञानके बलपर इन्द्र विजयी तो हुए; किन्तु एक दिन उन्होंने देखा कि विश्वरूप एक आहुति देवताओंको देते हैं तो दूसरी आहुति असुरोंको भी देते हैं। विज्ञान जीवनकी ही नहीं, युद्धकी भी प्रेरणा देता है। संसार सात्त्विकता और तामसिकता दोनोंकी प्रेरणा देता है। फलस्वरूप इन्द्रने विश्वरूपको मार डाला। इससे इन्द्रको हत्या लगी।

बृहस्पति होते तो बतलाते—'एकबार तुमने अपनेको विजयी-कर्ता माना था, तो यक्षने प्रकट होकर तुम्हारा गर्व दूर किया। अब फिर वही गर्व करते हो? कर्ता आत्मा नहीं है।'

समझानेवाले वैदिक गुरु नहीं थे। इन्द्रने अब संसारका आदर्श लेना छोड़ दिया। इससे विश्वरूपके पिता त्वष्टा अप्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ करके वृत्रासुरको जन्म दिया।

वृत्रका अर्थ है आवरण। उसने इन्द्रको पराजित कर दिया। तब देवताओंने भगवान् विष्णुकी शरण ली। भगवान्ने उन्हें दध्यङ् आथर्वण महर्षि दधीचिकी शरण लेनेको कहा। ये दध्यङ् आथर्वण वेदकी अर्थराशिके विद्वान् थे। किन्तु बृहस्पति वेदकी शब्दराशि और अर्थराशि दोनोंके विद्वान् थे।

धर्म वेदकी शब्दराशिसे भी सम्पन्न होता है। ब्राह्मण वेद-मन्त्रका अर्थ न जानता हों, पर यज्ञमें ठीक-ठीक मन्त्रोच्चारण करें तो उससे धर्मकी उत्पत्ति होती है। यह अपरा-विद्या कही गयी है। परा-विद्या है—यया तदक्षरमधिगम्यते। यह वेदकी अर्थ-राशि, जिससे अक्षरतत्त्वका ज्ञान होता है।

दध्यङ् आथर्वणने अपनी देह त्यागी। अपनी हड्डियाँ देवताओंको दे दीं। उन ब्रह्मविद्याप्राप्त महापुरुषकी हड्डोसे वज्र बना, जिससे वृत्रासुर मारा गया। आवरण टूटा; किन्तु केवल असत्त्वापादक आवरण नष्ट हुआ, अभानापादक आवरण बना ही रहा। इन्द्रके मनमें फिर कर्तापन आया कि वृत्रासुरके मारनेकी हत्या लगी। तब बृहस्पतिको ढूंढ़ा गया। उन्होंने इन्द्रसे यज्ञ कराया। फिर वेद आया।

सारांश, लौकिक दृष्टिसे अपनेको कर्ता मानो या अकर्ता, दोनों भ्रम हैं। जहाँ व्यक्तिकी बुद्धिसे ज्ञान होगा, वहाँ व्यक्तिका बाध नहीं होगा। अतः व्यक्तिकी बुद्धिसे नहीं, महावाक्यजन्य वृत्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। इसीलिए वेदको अपौरुषेय मानते हैं। इन्द्रको विश्वरूपसे जो ज्ञान मिला, वह पौरुषेय ज्ञान था, जब कि बृहस्पतिका ज्ञान अपौरुषेय ज्ञान था।

> बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः।
> एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः॥

बृहत्, ब्रह्म, महत् ये शब्द पर्यायवाची हैं। ये तीनों बातें जिसमें हों, वह बृहस्पति है।

> बृहत्त्वात् ब्रह्मत्वात् महत्त्वाद् वा बृहस्पतिरिति उच्यते।

बृहत् होने, ब्रह्म होने तथा महान् होनेसे उन्हें 'बृहस्पति' कहा जाता है। वेदमें 'बृहस्पति' शब्दसे प्रारम्भ होनेवाले मन्त्र बहुत-से हैं। हवनमें बृहस्पतिकी पूजाके लिए एक मन्त्र बोला जाता है, उसका अर्थ है : 'हे बृहस्पति! जो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ परमेश्वर सबका स्वामी है—जब कोई यज्ञानुष्ठान करता है, तो उसके जीवनमें—वह प्रकाशमान होकर प्रकट होता है। उसी सर्वश्रेष्ठ स्वामीको

तुम हमें दे दो। हे सुप्रजात! आप तो कुलीन हैं—तत्त्वज्ञानी हैं। संसारी पुरुषोंको जैसा धन चाहिए, वैसा धन हमें नहीं चाहिए। हमें वह आश्चर्यजनक धन दें, जिसे प्राप्तकर तपस्वी तपोधन और ज्ञानी ज्ञानधन हो जाते हैं।'

बृहस्पते जय आजम्र : हे बृहस्पति, ऐसी कृपा करो कि हम अन्नमय-कोशपर विजय प्राप्त कर लें। बृहस्पते याहिरथे न—तुम मनोरथपर बैठकर ईश्वरके पास जाओ और उससे कहो कि 'वह हमारे जीवनमें प्रकट हो।'

यह बृहस्पति ही गुरु है। ब्रह्मज्ञान गुरुसे ही प्राप्त होता है। बृहस्पति प्रेमतत्त्व भी है। बृहस्पतिका अरिष्ट होता है, तो पुखराज धारण कराते हैं। प्रेमकी देवता बृहस्पतिका रंग पीला है।

'बृहस्पति' : वाक्पति, जीव, सबसे बड़ा पुरोहित जो वाणीके पीछे बैठा बोलनेवाला है। व्यवहारः शब्दोच्चारणम्—वाणीसे ही सारा व्यवहार चलता है, वाणीसे ही हम शत्रु-मित्र बनाते हैं। सभी नाम शब्दसे बने हैं। इस वाणीका पति–वाक् पति जीव है। वैखरी वाणी भी वही है, मध्यमा, पश्यन्ती और परावाक् भी वही है। 'वैखरी' वाणीरूप कर्ता, 'मध्यमा'रूप वक्ता, 'पश्यन्ती' रूप द्रष्टा तथा कर्तृ-द्रष्टभाव-विनिर्मुक्त चित्स्वरूप 'परा' वाक् वही है।

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपैति रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

अर्थात् यह जीव ही प्राणद्वारा कण्ठादि गुहामें प्रवेशकर मनोमय सूक्ष्मरूप मात्रा, स्वर, वर्णादि वाणी बनता है।

पुरोधसां च मुख्यं माम् : अपनी भलाई सोचनेके लिए जो सबसे पहली वस्तु है, वह क्या है? जीभसे प्रारम्भ करके भीतर चलो। वाक्पति बृहस्पतिको ढूँढ़ो। वाक् चार रूपोंमें भीतर ले जाती है : वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। इनके स्वामी तुम ब्रह्म हो। परा वाक्-पति ही ब्रह्म है।

वाचं न विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्।

—बृहदारण्यकोपनिषत्

वचन क्या है, इसपर ध्यान मत दो। बोल कौन रहा है, इसे देखो।

जीवके रूपमें, वाक्पतिके रूपमें व्यष्टिमें परमात्माको ढूँढ़ना, सम्पूर्ण वेदवाणीके उद्गमके रूपमें समष्टिमें परमात्माको ढूँढ़ना और महावाक्यसे दोनोंका एकत्व समझना—यह बृहस्पतिके रूपमें परमात्माका अनुसन्धान है।

× × ×

सेनानीनामहं स्कन्दः—सबके साथ सेना होती है। 'इनेः सहिता सेना।' इन=सूर्यके समान गतिशील अथवा अन्धकाररूप शत्रुको निवृत्त करनेवाले वीरपुरुष जिस समूहमें हों, उसका नाम 'सेना' है।

सिनोति बध्नाति इति सेना : जो लोगोंको बन्दी बना ले, उसे 'सेना' कहते हैं। अथवा 'स्यति इति सेना'—जो शत्रुओंको मार डाले, उसका नाम सेना है।

सेनां नयति इति सेनानी : जो सेनाका सञ्चालन करे, उसे 'सेनानी' कहते हैं। सेनापति सृष्टिमें बहुत हुए हैं। प्राणोंमें सेना-

पति 'प्राण' है और अपान, व्यान, उदान, समानादि उसके सैनिक हैं। इन्द्रियोंमें सेनापति 'नेत्र' हैं।

इन्हीं सेनापतियोंमें एक 'स्कन्द' हैं। स्कन्द शिवपुत्र और षण्मुख हैं। तारकासुर और क्रौञ्चासुर देवताओंके मारनेसे नहीं मरे। देवता उनसे युद्धमें हार गये। शिवपर भी तारकासुरने जृम्भणास्त्रका प्रयोग किया तो शंकरजी जम्हाई लेने लगे।

ये साधकके जीवनमें आनेवाले असुर हैं जो संसारी, विषयी लोगोंको कभी नहीं दीखते। चित्तका पक्षपात क्रौंचासुर पक्षी है। मनुष्य जब पक्षपातवश दूसरेकी निन्दा करता है तो वह पक्षी हो जाता है। 'हमारा ही इष्ट, हमारा ही मन्त्र तारक है, दूसरा कोई नहीं।' यही तारकासुर है।

ये दोनों मरें कैसे ? शिवके वीर्यसे उत्पन्न पुत्र इन असुरोंको मारेगा। शिव ब्रह्म हैं और उनका वीर्य है चिदाभास। अधिष्ठान चैतन्य तो किसीका विरोधी है नहीं। वह सभीको सत्ता-स्फूर्ति देता है। यह चिदाभास ही इन असुरोंको नष्ट करता है।

परमात्माको ढूँढ़ना हो तो कैसे ढूँढ़ें ? जैसे घरमें भित्तिपर प्रकाश पड़ रहा है। बिजली जलती नहीं, सामने खिड़की भी नहीं है तो प्रकाश आता कहाँसे है ? घरमें लगे दर्पणसे। दर्पणमें प्रकाश कहाँसे आया ? रोशनदानके सामने ऊपर सूर्य है। उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ रहा है। इसी तरह परमात्माको ढूँढ़ना हो तो देखो कि हमारी इन्द्रियोंमें, जो विषयोंको प्रकाशित करती हैं, यह प्रकाश कहाँसे आता है ? अन्तःकरणसे। अन्तःकरणमें प्रकाश कहाँसे आता है ? उसमें परमात्माकी चिच्छाया पड़नेके कारण। इस प्रकार चिदाभास स्कन्दद्वारा परमात्माका अनुसन्धान करना चाहिए।

स्कन्द यानी चिदाभासकी शक्तिसे ही सभी साधन होते हैं। हमारे पास इन्द्रियों, प्राणों और मनोवृत्तियोंकी जितनी सेना है, उनका संचालक यह चिदाभासरूप स्कन्द ही है। सबके मूलमें आभास ही है तो पक्षपात और अमुक साधनको ही तारक कहना असंगत है। सबमें एक ही परमात्माका आभास है।

दक्षिण भारतमें इन्हीं स्कन्दको 'सुब्रह्मण्य' कहते हैं। ये कुमार हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पृथक्-पृथक् हैं। इन्द्र, चंद्र, वरुण, कुबेर भी पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु स्कन्द अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके नायक बनाये गये हैं। समष्टिरूपमें चिदाभास 'ईश्वर' ही स्कन्द हैं तो व्यष्टिरूपमें चिदाभास 'जीव' स्कन्द है। इस आभासका यदि अनुसन्धान करोगे तो परमात्मा मिल जायगा।

स्कन्द अयोनिज शिवपुत्र हैं। वे मायासे सम्पृक्त नहीं, केवल आभासमात्र हैं। काश्मीरी शैव-सम्प्रदायमें स्कन्द=स्पन्द ईश्वरका नाम है। विमर्श-शक्तिसे युक्त शिव ही 'स्पन्द' है। सम्पूर्ण जीव-जगत् उसके विमर्शमें है, जैसे हमारे स्वप्नमें सृष्टि है।

जब इसका अनुसन्धान करेंगे कि सर्वत्र एक ही परमात्मा है, तभी 'स्कन्द' का अनुभव होगा।

× × ×

सरसामस्मि सागरः—अजमेरका 'पुष्कर-तीर्थ' 'ब्रह्म-सरोवर' है। कच्छमें 'नारायण-सरोवर' है। तिब्बतमें कैलाससे कुछ दूर 'मानस-सरोवर' है। गुजरातके सिद्धपुरमें 'बिन्दु-सरोवर' है। सरोवर बहुत-से हैं। ये ह्रद हैं। वैदिकी भाषामें इन्हें 'दह्र' कहते हैं। प्रत्येक शरीरमें एक-एक दह्र है। इसीका लौकिक नाम 'हृदय' है।

'हरति संस्कारानिति हृत्' : जो इन्द्रिय एवं विषयोंके, मन एवं विषयोंके सम्बन्धसे बननेवाले संस्कारोंको एकत्रकर अपनेमें रखे, उस आहरणशीलका नाम 'हृदय' है।

जलाहरणशीलको—जो स्रोतों या इधर-उधरकी भूमिका जल इकट्ठा कर अपनेमें रखे, वह ह्रद या सरस् है। 'स्रियन्ते जलानि इति सरसः'—जिसमें जल बहकर आये, वह सरोवर है। इन सरोवरोंमेंसे सागरमें परमात्माका अनुसन्धान करना है। अमृत निकलता है सागरका मन्थन करनेसे।

सगरपुत्रैः अश्वानुसन्धानार्थं कृतः सागरः।

राजा सगरके पुत्रोंने अपने पिताको अश्वमेधीय अश्व ढूँढ़नेके लिए पृथ्वी खोदकर जो महागर्त बनाया, उसे 'सागर' कहते हैं।

सगर=सविष। जीवके साथ दुःख, अज्ञान, मृत्युका विष लग गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि सागर महात्माके समान है : मुनिः प्रसन्नगम्भीरः। इसका जल नीला, निर्मल रहता है। यह गम्भीर है, अक्षोभ्य है—इसमें क्षोभ नहीं : स्तिमितोद इवार्णवः। ऐसे शान्तजलके समान महात्माको होना चाहिए।

प्रसन्न=निर्मलचित्त। गम्भीर=जिसने अपनी ब्राह्मी स्थितिको छोड़ा नहीं। अक्षोभ्य=क्षोभके चाहे जितने कारण आयें, पर क्षुब्ध न होनेवाला। ऐसे रहकर समुद्रकी अनन्ततामें ईश्वरका ध्यान करो।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

पृथ्वी एक पाद है और तीन पाद समुद्र हैं। सत्, चित्, आनन्दस्वरूप समुद्र ईश्वर है।

समृद्धिकामो हीनो वा नारायणपरायणः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ —भागवत

जैसे समुद्रमें नदियाँ गिरती और कभी सूख जाती हैं, नहीं गिरतीं, पर समुद्रमें न बाढ़ आती है और न वह सूखता है; वैसे ही नारायणपरायण साधक लाभ-हानिसे न हर्षित हों और न दुःखी ही।

एक सेठको टैक्स अधिक लग गया। वे मेरे पास आकर बोले : 'इतना टैक्स कैसे चुकायें ?'

मैंने पूछा : 'आपकी कमाई हुई है या नहीं ?

वे : 'हुई थी लेकिन वह तो सब खर्च हो गयी। इधर दिया, उधर उड़ाया। अब इतना टैक्स देंगे तो व्यापार ही समाप्त हो जायगा।'

यह उत्तम व्यक्तिका व्यवहार नहीं है। उत्तम व्यक्तिका आदर्श है, भले ही कामनाएँ पूरी हों या न हों, पर जैसे समुद्र हृदयमें नारायणको धारण किये एकरस रहता है, वैसे ही नारायण-परायण रहे। न उन्माद हो और न सूखा।

नास्ति गरो यस्मिन् तदगरम्=अमृतम्, अगरेण सह वर्तते इति सागरः।—जिसमें कोई विष नहीं, वह अगर यानी अमृत है। उस अगरके साथ जो रहता है, उसका नाम 'सागर' है।

अगं गोवर्धनम् न गच्छति इती अगः पर्वतः=गोवर्धनः, तं राति गृह्णाति वामहस्तेन इति अगरः=कृष्णः, अगरेण सह वर्तते द्वारिकायामिति सागरः।—अग वह है जो चलता नहीं। अर्थात् पर्वत, गिरिराज गोवर्धन। उसे जिन्होंने वामहस्तपर

धारण कर लिया, वे हुए अगर—श्रीकृष्ण। उन श्रीकृष्णके साथ द्वारिकामें जो रहता है, उसे कहते हैं 'सागर'।

पराक्=पूर्व, प्रत्यक्=प्रतीची=पश्चिम। श्रीकृष्ण पश्चिम या प्रत्यक्। समुद्र अर्थात् आत्मसमुद्रमें रहते हैं। उनके लीला-संवरणका स्थान यही ब्रह्म चैतन्य है। नारायण समुद्रायण हैं। अतः इस आत्मचैतन्य-समुद्रमें नारायणका अनुसन्धान करो। सागरके रूपमें अपना अनुसन्धान करना है :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

—गीता २.७०

सब नदियाँ समुद्रमें आकर गिरती हैं, पर समुद्र सदैव अपनी मर्यादामें रहता है। उसमें बाढ़ नहीं आती। इसी प्रकार महात्मा देखते हैं कि संसारकी वस्तुएँ अपना स्वरूप ही हैं। अपना रक्त तो कोई पीता नहीं। अतः यहाँ काम या क्रोधका क्या अर्थ है? अपने दाँतसे जीभ कट जाय, तो क्या कोई दाँत उखाड़ देता है? नेत्र, कर्ण, जीभ आदिके मार्गसे भोग भीतर प्रवेश कर रहे हैं, पर जो अचल-प्रतिष्ठ है, उसीको शान्ति मिलती है। जो चाहके चक्करमें पड़ा, उसे शान्ति नहीं मिल सकती।

ज्ञानी पुरुष भी खाता, सूँघता है। भोग उसके भीतर प्रवेश करते हैं, पर वह भोगके लिए व्याकुल नहीं होता, जैसे समुद्र नदियोंसे मिलने नहीं जाता, नदियाँ ही समुद्रमें आ मिलती हैं।

श्रीकृष्णने उद्धवसे गोपियोंका वर्णन करते हुए कहा था :

सा नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितो ये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥

—भागवत

अर्थात् जैसे नदी जब समुद्रमें प्रवेश करती है तो उसका न रूप रह जाता है और न नाम। जो नदी समुद्रसे मिलती है, वह अपना नाम-रूप खो देती है; किंवा जैसे मुनि समाधिमें जाता है तो अपना नाम और देह भूल जाता है, ऐसे ही गोपियाँ श्रीकृष्णसे जा मिलीं तो अपना लोक, परलोक सब भूल गयीं।

यह प्रेम-सागर है। गोपी कहती है :

तुम नीके रहौ, उनही के रहौ।

जबतक तुम संसारमें और किसीसे प्रेम करोगे, तबतक तुम्हारा हृदय सरोवरके समान रहेगा और जब ईश्वरसे प्रेम करोगे तो सागरमें मिल जाओगे। श्रुति कहती है :

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जैसे नदियाँ बहते-बहते नाम-रूप छोड़ समुद्रमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् जबतक ईश्वरसे अलग रहता है, तभीतक इन्द्रियोंके मार्गसे विषयोंकी दिशामें बहता है। जब अपनेको नाम-

रूपसे विमुक्त जान लेता है तो परात्पर दिव्य पुरुषसे एक हो जाता है।

नामानि दामानि च : नाम दाम यानी रस्सी है। कहीं नौकरी करने जाओ तो नाम रखा जाता है—चपरासी, क्लर्क आदि। बिना नामके कर्तव्य नहीं होता। जब हम अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कहते हैं, तो उनके कर्तव्योंसे बँध जाते हैं। नामवालेका धर्म होता है, पर ज्ञानी पुरुष नाम-रूपसे मुक्त हो जाता है।

परात्परम् : अक्षरात् परतः परः, परतः अक्षरात् परः। जितना कार्य-जगत् है उन सबसे परे अक्षररूप कारण है। उस कारणसे भी परे अर्थात् कार्य-कारणसम्बन्धसे वह विमुक्त है। कार्य-कारण-भाव सत्में विवर्त है। द्रष्टा-दृश्यभाव चित्में विवर्त है और भोक्ता-भोग्यभाव आनन्दमें विवर्त है। उस अद्वितीय परमात्माका अनु-सन्धान समुद्रमें, अन्तःस्तलमें करना चाहिए।

२०. विभूतिरूप भगवान् : ३

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

—१०.२५

भगवान् कहते हैं कि महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ। वाणीमें एकाक्षर प्रणव हूँ। यज्ञोंमें जप-यज्ञ हूँ और स्थावरोंमें हूँ हिमालय।

महर्षीणां भृगुरहम् : 'भृज्यमानो न देहे इति भृगुः'—अर्थात् अग्निमें डाल देनेपर भी जो नहीं जला, उसका नाम 'भृगु' है।

इसका एक यह भी अर्थ है कि जीवनमें एक गुरु चाहिए। भृगु गुरु है। जो शिष्यको तपा-तपाकर शुद्ध करे, वह 'भृगु है। भर्जनाद् भृगुः अर्थात् जो भूने वह 'भृगु' है।

एकबार मोकलपुरके बाबा मुझे गाली देने लगे। जब वे शान्त हुए तो मैंने कहा : 'महाराज ! आप क्रोध बहुत करते हैं।'

वे बोले : 'मेरा क्रोध तुम्हें बुरा लगता है ? दुनियामें बहुत-से लोग तुम्हें गाली देंगे। मेरी गाली सहनेका अभ्यास रहेगा तो दूसरोंको गाली भी सह लोगे।'

जो माता, पिता और गुरुको न सहे, वह अभागा है। सहनेसे जीवनका निर्माण होता है, असहिष्णुतासे नहीं।

'ऋष्' धातु गत्यर्थक है और 'सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः'—सब गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं।

स्तोमं ददर्श इति ऋषिः। अथवा—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। वेदमन्त्रका जिसने दर्शन किया, उसे 'ऋषि' कहते हैं। परमर्षि, देवर्षि, श्रुतर्षि, महर्षि, काण्डर्षि आदि ऋषियोंके अनेक भेद हैं।

तपसे पवित्र होकर साधक जब समाधि लगाता है और विश्वमें जिस स्तरमें मन्त्र हैं, उस स्तरमें पहुँचकर उन्हें देखता है, तब 'ऋषि' होता है।

उतस्त्वं पश्यन् ददर्श वाचम्।

पूरा विश्व देख डाला, पर मन्त्रका दर्शन नहीं हुआ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।

ध्यानकर्ता जब परमाकाशमें पहुँचा तो देखता है कि मन्त्र बोल रहे हैं। इस प्रकार हृदयमें मन्त्रका दर्शन करनेवाला 'ऋषि' है।

किन्तु इन मन्त्रोंमें जो 'अहं'पूर्वक मन्त्र हैं, वे आध्यात्मिक होते हैं और इन आध्यात्मिक मन्त्रोंके द्रष्टा 'महर्षि' कहलाते हैं। इन्हीं महर्षियोंको लक्ष्यकर भगवान् कहते हैं: मैं महर्षियोंमें भृगु हूँ।'

प्रजापति ब्रह्माके पुत्र 'भृगु' हैं। प्रजापतिकी सुर-असुर दोनों सन्तानें हैं। 'सुष्ठु रमते स्वस्थाने इति सुरः, न सुष्ठु रमते स्वस्थाने इति असुरः'—'अर्थात् जो अपने स्थान, अपनी सम्पत्तिमें सन्तुष्ट रहे, वह सुर है। देवता कभी पातालपर आक्रमण नहीं करते। जो अपने स्थान, अपनी सम्पत्तिमें सन्तुष्ट न रहे, वह असुर है। असुर ही स्वर्गपर आक्रमण करते हैं।

प्रजापतिने अपने वीर्यकी परीक्षा की। उसे आगमें भूना तो उससे 'भृगु' उत्पन्न हुए। वीर्य तो जल गया, पर जो वस्तु नहीं

जली, वह भृगु है। वह चैतन्य है। समष्टिमें वहीं 'भर्ग' है। गायत्रीमें वही भर्ग है। महावाक्य व्यष्टि-चैतन्य और समष्टि-चैतन्य दोनोंकी एकता बतलाते हैं।

प्रजापतिने दुबारा वीर्यको तपाया, तो उससे 'अङ्गिरा' निकले। फिर उन्होंने सोचा—अत्र तृतीयोऽपि सम्भवति। इसमें अभी तीसरेका होना भी सम्भव है। फिर तपाया तो 'अत्रि' उत्पन्न हुए। अङ्गारमें जो छिपे थे, वे अङ्गिरा हुए। इनमें 'भृगु' परमात्माका रूप है। 'अङ्गिरा' अङ्गवान् जीव है और 'अत्रि' त्रिगुणातीत महात्मा है। फिर उसे कुरेदा : विखननाद् वैखानसा भवन्ति। कुरेदनेसे 'वैखानस' हुए। पाँचवें पुत्रके रूपमें 'भरद्वाज' हुए।

प्रजाप्रतिकी प्रथम मुख्य सन्तान हैं 'भृगु'। एकबार ऋषियोंकी सभामें प्रश्न उठा कि 'भक्ति किसकी करनी चाहिए? सब लोगोंने भृगुजीको पता लगानेको कहा। त्रिषु देवेषु को महान्—पता लगाना था कि त्रिदेवोंमें कौन महान् है?

भृगु ब्रह्मलोक गये, किन्तु ब्रह्माजीको प्रणाम नहीं किया। इससे ब्रह्माजीको क्रोध तो आया कि पुत्र होकर भी इसने मुझे प्रणाम नहीं किया, पर वे उसे पी गये।

ब्रह्मलोकसे भृगु कैलास गये। भगवान् रुद्रने देखा—ये भी ब्रह्माके पुत्र हैं और मैं भी। ये मेरे छोटे भाई हैं। प्रेमसे गले लगाने आगे बढ़े तो भृगु बोले : 'बस, बस, वहीं रुको! मुझे छूना मत। गलेमें हड्डियोंकी माला डाले, शरीरमें चिता-भस्म लगाये तू अपवित्र मुझे गले लगाना चाहता है?'

रुद्रको इस तिरस्कारसे बड़ा क्रोध आया। भृगुको मारनेके लिए त्रिशूल उठाया तो पार्वतीजीने आकर रोक दिया : 'भाई-भाईमें

युद्ध अच्छा नहीं।' भृगु वहांसे क्षीरसागर गये। वहां भगवान् विष्णु शेषशय्यापर लेटे थे। लक्ष्मीजी उनके चरण दबा रही थीं। भृगु बोले : 'जगत्की रक्षा करनेका यही ढंग है?' भगवान्की छातीपर उन्होंने लात मारी।

भगवान् विष्णु उठे। उन्होंने भृगुके पैर पकड़ लिये : 'महर्षि! आपने बड़ा अच्छा किया। सेवकसे अपराध हो तो स्वामीको दण्ड देना ही चाहिए। आपके आनेपर मैंने उठकर स्वागत नहीं किया, यह मुझसे अपराध हुआ। आपने उचित दण्ड दिया। लेकिन मेरी छाती कठोर है और आपके चरण हैं अतिकोमल। आपको चोट तो नहीं लगी?'

इस प्रकार महर्षि भृगु ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी भी परीक्षा करके उनके सत्त्व और महत्त्वका निश्चय करते हैं।

जो भूनता और भूना जाता है, वह 'भृगु' है। जो तुम्हारे दुःख-दुर्गुण जला देता है, वह भृगु है।

दुर्वासाके शापसे इन्द्र श्रीभ्रष्ट हो गये। स्वर्गकी लक्ष्मी समुद्रमें मिल गयी। जब समुद्र-मन्थन हुआ, तब उससे लक्ष्मी निकलीं। इनका कन्यादान भगवान् विष्णुको भृगुने ही किया था।

महर्षि भृगुने जब क्षीरसागरमें भगवान् विष्णुको लात मारी तो लक्ष्मीजीको क्रोध आ गया। भृगु बोले : 'अच्छा, तुम मुझपर क्रोध करती हो तो तुम्हें मेरी पुत्री बनना पड़ेगा। मैं वह संसारी नहीं, जो लक्ष्मीको भोग्या बनाना या उसकी कृपा पाना चाहता हो।'

नारायणको भी 'लक्ष्म' अर्थात् भृगुलता देनेवाले भृगु हैं!

सम्पूर्ण आभासरूप वीर्यको भून देने—बाधित कर देनेपर भी जो शेष रहता है, वह 'भृगु' है। जो दुःख, पाप वासना, अज्ञान तथा अज्ञानकृत समस्त भेदोंको भस्म कर दे, वह भृगु है—वह गुरु है। गुरु भगवद्रूप है।

बृहस्पति आदि ऋषि 'नीतिशास्त्र' के कर्ता हैं। वे धन कमानेका मार्ग बतलाते हैं। वात्स्यायनादि ऋषि 'कामसूत्र' के निर्माता हैं। वे भोगका मार्ग बतलाते हैं। 'जैमिनि' आदि ऋषि 'पूर्वमीमांसा' के रचयिता हैं। वे धर्मका मार्ग बतलाते हैं। इस प्रकार हमें जो वासनापूर्तिके मार्गपर ले जाय, वह 'महर्षि' भले हो, पर 'भृगु' नहीं। भृगु वह है जो हमारी वासनाओंको ज्ञानाग्निसे भून दे।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजके सामने बहुत सुन्दर वस्तु रखी जाती तो कहते : 'इतने उत्तम अंगूर हैं, इन्हें चबा जायें ? ऐसे ही इन्हें रहने दो, देखेंगे।'

वृन्दावनके आश्रममें कुआँ बन रहा था। वहाँ फूलके पौधे लगे थे। उनमें फूल लगते तो बाबा कहते : 'इन्हें तोड़ना मत! खिलने दो।'

जो सौन्दर्यका प्रेमी होगा, वह सौन्दर्यको भोगकर नष्ट करना नहीं चाहेगा। श्रेष्ठ सौन्दर्य वह है, जिसे देखकर भोग-वासना निवृत्त हो जाती है। चन्द्रमा आकाशमें है। उसे देखकर नेत्र तृप्त होते हैं; किन्तु उसे 'मेरा' बनाकर रखनेकी इच्छा नहीं होती।

परमार्थका मार्ग वासनाको भूननेका मार्ग है। भृगु वह है जो वासनाको भून दे। गुरु वह है जो शिष्यकी वासनाको रोकने-

मिटानेके लिए यत्नशील रहे। तुम्हारी 'हाँ' में 'हाँ' मिलानेवालेका नाम भृगु या गुरु नहीं है।

तुम किसी ऋषिके पास जाकर पूछते हो: 'क्या हम स्वर्ग-प्राप्तिके लिए यज्ञ करें?'

वह कहेगा: 'अवश्य करो। वेदमें आज्ञा है-स्वर्गकामो यजेत।' लेकिन यही बात गुरुसे पूछो तो कहेगा: 'तुम्हारी रुचि हो तो यज्ञ करो। किन्तु स्वर्गके लिए नहीं, अन्तःकरणशुद्धिके लिए करो।'

यह 'गुरु-भृगु' परमात्माका स्वरूप है।

× × ×

गिरामस्म्येकमक्षरम्: जितनी वाणी बोली जाती है, उसमें एक अक्षर मैं हूँ।

इता संख्या एक इत्युच्यते।

इता=व्याप्ता व्याप्नोति सर्वासु संख्यासु या संख्या एका सा इत्युच्यते।

वह संख्या एक कही जाती है जो सब संख्याओंमें व्याप्त है। एति व्याप्नोति इति एकः। १+१=२। १+१+१=३। इस प्रकार सब संख्याएँ एकसे बनी हैं। अतः परमात्माका नाम 'एक' है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

पहले वह हिरण्यगर्भ ही था। समस्त उत्पन्न भूतोंका वही एक स्वामी है। जैसे एक संख्या सब संख्याओंमें व्याप्त है, वैसे ही ईश्वर सब भूतोंमें व्याप्त है।

सदेवासीत् सौम्यमग्रे एकमेवाद्वितीयम्।

सौम्य ! पहले वह एकमेव अद्वितीय, सन्मात्र था।

ईश्वरका 'एक'से बड़ा नाम है 'अद्वय'। एक तो और संख्याओंमें व्याप्त है। १+१=२ होता है, किन्तु अद्वय या अद्वितीयमें संख्या ही नहीं।

एकमक्षरम् : अक्षरोंमें एक क्या ?

अकारेण सर्वा वाक् सम्पूर्णा।

अकारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। संसारमें जितने स्वर एवं वर्ण हैं, उन सबमें 'अ' व्याप्त रहता है। जैसे एकके बिना संख्या नहीं, वैसे ही 'अ' के बिना कोई स्वर या वर्ण नहीं है : क=क्+अ। ख=ख्+अ। आ, इ, उ, ए आदि भी स्थानभेदसे अ हीके उच्चारण है।

अकारो वासुदेवः स्यात्—अकार वासुदेव हैं।

एकमक्षरम् : ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म—ॐ एकाक्षर ब्रह्म है। पूरी माण्डूक्योपनिषत् ॐ का अर्थ बतलानेके लिए ही है।

ॐका एक अर्थ है : अ=अहम्+उ=एतत्+म्=नहि, अहमेतद् न।

अर्थात् मैं यह देह, इन्द्रियादि व्यष्टि-समष्टिरूपमें जो प्रपञ्च दीख रहा है, वह नहीं हूँ।

ओमिति आत्मानं युञ्जीत।
ओमिति आत्मानमुपासीत।

एकबार ॐकारके अर्थका ठीक-ठीक ध्यानमें आ जाय तो ब्रह्मज्ञान हो जाय।

गिरामस्म्येकमक्षरम् : जिसके बिना कोई मन्त्र बनता ही नहीं। छोटेसे छोटा मन्त्र प्रणव है। मन्त्राणां प्रणवः सेतुः। मन्त्रोंमें सेतुका काम प्रणव करता है। जैसे दो खेतोंके बीच मेड़ होती है, वैसे ही दो मन्त्रोंके बीच प्रणव सेतुरूप है। जैसे— ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय में दो नमः शिवाय को 'ॐ' पृथक् करता है। बीचमें प्रणवका यह सेतु न हो तो सब एक हो जायगा।

किसी भी इष्टदेवका ध्यान करो, सब इष्टोंके पास प्रणव होता है। सब देवता प्रणवात्मक हैं। प्रणवमें अपने इष्टका ध्यान करो या केवल प्रणवका ही जप-ध्यान करो।

एक व्यक्ति कहता है : 'मैं पचीस वर्षसे जप करता हूँ, फिर भी मेरे मनमें बड़ी अशान्ति है। लेकिन यह कैसे सम्भव है? तथ्य यह है कि वाणीसे जैसा जप करना चाहिए, वैसा उसने नहीं किया। किसीसे सुन लिया "वाचिक जप' से 'उपांशु-जप' श्रेष्ठ होता है और उपांशुजपसे 'मानसिक जप' श्रेष्ठ होता है" तो कह दिया : 'हम तो मानसिक जप ही करेंगे।' पर मानसिक जप होगा कैसे, जबकी मन एकाग्र ही न होता हो?

विधि यह है कि मन्त्र गुरुसे लिया हो, फिर वाणीसे उसका जप करो, तब वह अन्तरमें प्रवेश करेगा। वाणीसे जप करनेपर वह कंठमें प्रवेश करता है। कंठसे उपांशु-जप ठीक किया जाय तो वह हृदयमें प्रवेश करता है।

पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्।

पहली भूमिकाकी भक्ति की जाय तो वह उससे आगेकी भूमिकामें पहुँचा देती है। जो कोई अनधिकार प्रवेश करता है, उसे लाभ नहीं होता। अतः प्रणवका जप वाणीसे प्रारम्भ करो। यहाँ प्रणवका तात्पर्य अपने इष्टमन्त्रका जप समझना चाहिए।

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।

संन्यासीके लिए बारह सहस्र प्रणवके नित्यजपकी विधि है। ॐका जप या ध्यान मत करो। ॐकारकी नोकपर जाकर बैठ जाओ। दीर्घस्वरसे प्रणव बोलो और जहाँ श्वास टूटे, वहाँ स्थिर हो जाओ। फिर श्वास उठे तो फिर दीर्घ प्रणवका उच्चारण करो।

प्रणवमें 'अ' विश्व, 'उ' तैजस और 'म' प्राज्ञ है तथा अर्धमात्रा माया है। उसपर जो अमात्र-बिन्दु है, वह तुरीय है।

ओमिति आत्मानं युञ्जीत। ओमिति एतद् सर्वम्। —ओंकारके साथ अपनेको मिलायें। सब सृष्टि प्रणवरूप है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा योगमिच्छति तस्य तत्॥

यह प्रणव श्रेष्ठ आलम्बन है, यह परम आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर जो चलता है, वह प्रणव परमात्मासे एक हो जाता है।

अश्नुतेति अक्षरम्।—(व्याकरण-महाभाष्य) जो सबमें व्याप्त है, उसे 'अक्षर' कहते हैं। सब मन्त्र अर्थप्रधान हैं; किन्तु ओंकार है शब्दप्रधान। योगदर्शनके अनुसार प्रणवका अर्थ ईश्वर है।

तस्य वाचकः प्रणवः। माण्डूक्योपनिषत्की दृष्टिसे ॐकारका अर्थं विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय है। इसमें तुरीयको आत्मरूप ब्रह्म जानकर उसमें स्थित हो जाओ।

× × ×

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि—एकबार ठीक-ठीक विचार न हो तो जप करो।

महाभारत शान्तिपर्वमें जापकोपाख्यान है : वे गायत्री-जप करते थे। गायत्री देवी प्रसन्न होकर प्रकट हुईं और बोलीं : 'जो इच्छा हो, सो माँग लो।'

जापक : 'देवि ! कृपा करो, मुझे कुछ नहीं चाहिए। हम वह ब्राह्मण नहीं जो प्रतिग्रह लेता हो।'

गायत्रीने बहुत समझाया : 'मेरा अपमान मत करो।'

जापक : 'आपको कुछ देना ही हो तो यह दो कि जपमें मेरी रुचि बढ़ती रहे। जप कभी न छूटे।'

सैकड़ों वर्ष जप करनेपर उनके पास यमराज, काल और मृत्यु आये और बोले : 'अब आप स्वर्ग चलें !'

जापक : 'स्वर्ग जाय मेरी बला। स्वर्ग तो नरकके समान ही है। हम तो जप नहीं छोड़ेंगे।'

इतनेमें वहाँ राजा इक्ष्वाकु आये। ब्राह्मणने कहा : 'तुम यहाँ अतिथि आये हो, हम तुम्हारी क्या सेवा करें ?'

राजा : 'हम तो क्षत्रिय हैं, दान नहीं लेते।'

ब्राह्मण : 'घर आये अतिथि हो, मेरी धर्म-रक्षाके लिए कुछ तो ले लो।'

राजा : 'अच्छी बात है। इतने दिन जो जप किया है, उसका फल मुझे दे दो।'

जापक : 'ले लो !'

राजा : 'तुम्हारे जपका फल क्या है ?'

जापक : 'यज्ञोपवीत होनेके दिनसे मैंने जप किया है। यह खोज मैंने नहीं की कि इसका क्या फल होता है। किसी फलकी प्राप्तिके लिए मैंने जप नहीं किया।'

राजा : 'ऐसे बिना जाने तो मैं नहीं लेता।' विवाद बढ़ा। दोनों युद्ध करनेको उद्यत हो गये। तब राजा इक्ष्वाकु बोले : 'मैं तो क्षत्रिय हूँ, शस्त्र चला सकता हूँ; पर तुम नहीं चला सकते। तुम ब्राह्मण हो, शस्त्र उठाना तुम्हारे धर्मके विपरीत है। तुम हथियार नहीं उठाओगे तो मैं भी तुमपर हथियार नहीं चला सकता। अतः वाग्युद्ध—शास्त्रार्थ ही करो।'

दोनोंमें शास्त्रार्थ छिड़ा। वहाँ नानारूपोंमें देवता आये। ब्राह्मण ब्रह्मलोक जानेको भी उद्यत नहीं हुआ। अन्तमें दोनोंको भगवान् अपने धाम ले गये; क्योंकि जप तो भगवान्‌का ही स्वरूप है।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि : यज्ञ तो बहुत होते हैं। यज्ञमें बहुत कुछ इकट्ठा करना पड़ता है—समिधा, सामग्री, ब्राह्मण आदि। यज्ञ आदान-प्रदानात्मक है। अपने पास एकत्र धनको समाजमें बाँटनेकी यह प्राचीन प्रणाली है।

यज्ञमें ब्राह्मण मन्त्रपाठ करते हैं। क्षत्रिय अश्वकी रक्षा करते हैं, सैनिक बनकर। वैश्यव शाकल्य, काष्ठ, वस्त्रादि जुटाते हैं। शूद्र सेवा करते हैं। इस प्रकार यजमान अपने संग्रहीत धनको सबमें बांटता है।

यज्ञका मुख्य प्रयोजन अन्तःकरणकी शुद्धि है। यज्ञमें देवताकी पूजा, सत्संग और दान होता है।

यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। यज्ञसे अपने जीवनमें संयम-नियम आता है कि 'इतने दिनोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे। हविष्यान्न भोजन्न करेंगे। विश्राम नहीं करेंगे।' इस प्रकार भोगसे, संसारी कामों और आरामसे निवृत्तिका संकल्प लेकर यज्ञमें बैठा जाता है। किन्तु यज्ञमें एक बड़ा दोष है कि वे हिंसा-प्रधान होते हैं। अश्वमेधादि यज्ञोंमें पशु-हिंसा होती है। अग्नि जलाना पड़े, औषधियोंको कूटा-पीसा जाय, यह भी हिंसा ही है।

यहाँ भगवान् ऐसे यज्ञको अपना स्वरूप बतलाते हैं, जिसमें हिंसा नहीं है। हवनप्रधान यज्ञोंमें हिंसा होती है, जप-यज्ञ वाक्प्रधान हैं।

जप—ज = जन्म + प = रक्षा। जो जन्मसे अर्थात् जन्म-मृत्युसे बचाये उसे 'जप' कहते हैं—जन्मनः पाति इति जपः।

मन्त्रमें जो 'नमः' या 'स्वाहा' होता है, वह दानात्मक होता है। जपयज्ञ आत्ममेध यज्ञ है। अपनी देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि भगवान्‌को अर्पण करना अर्थात् व्यष्टिको समष्टिमें हवन कर देना।

शरीरकी मिट्टीको मिट्टीमें, जलको जलमें, ऊष्माको अग्निमें, श्वासको वायुमें, आकाशको आकाशमें, मनको समष्टि मनमें,

बुद्धिको समष्टि बुद्धिमें हवन कर दो। समष्टि ईश्वरकी हो गयी। सृष्टि ईश्वरकल्पित—ईश्वरके संकल्पमें है। अतः तुम्हारा शरीर, इन्द्रियादि भी ईश्वरकल्पित हैं और ईश्वरके साक्षी स्वरूपमें उनकी सत्ता ही नहीं है।

यहाँ यदि कहा जाता कि यज्ञानां जपोऽस्मि तो अर्थ होता कि 'यज्ञ करते हुए ही यज्ञके अंगके रूपमें जो जप किया जाता है, वह मैं हूँ।' इसका तात्पर्य होता है : 'यज्ञ करो और जप करो।' लेकिन जब जपके साथ यज्ञ लगा दिया और कह दिया 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' तो उसका अर्थ हुआ कि क्रियात्मक यज्ञोंसे पृथक् यह वचनात्मक यज्ञ है। इसमें जिह्वा स्रुवा है। वाक् अग्नि है। शब्दोच्चारण आहुति है। ऊपर नीचेके तालुभाग अरणि हैं। जिह्वा मन्थन-काष्ठ है। इसके हिलानेसे जो वाक्-अग्नि उत्पन्न होता है, उसमें ईश्वरका चिन्तन करो।

वाणीसे मन्त्रोच्चारणमात्ररूप जप धर्मको उत्पन्न करता है। मनसे किया जप वृत्तिको एकविषयक बनाता है। वृत्ति एकविषयक बननेपर इष्टदेवका साक्षात्कार होता है।

× × ×

आपको एक गुरु चाहिए, और एक मन्त्र चाहिए। उस मन्त्रको गुरुसे ले लेना ही पर्याप्त नहीं, उसका जप करना चाहिए। उस जपमें हिमालय जैसी निष्ठा चाहिए। आपत्ति-विपत्ति भले आये, पर स्थिर रहें। कोई कुछ कहे, किन्तु विचलित ना हों।

भगवान्ने बतलाया : महर्षीणां भृगुरहम्—मैं गुरुस्वरूप हूँ। गिरामस्म्येकमक्षरम्—मैं ही मन्त्रस्वरूप हूँ। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि

—मन्त्रके जपकी क्रिया भी मैं हूँ। अब कहते हैं कि जपमें जो निष्ठा है, वह भी मैं ही हूँ।

स्थावराणां हिमालयः—जपमें सिद्धि आये तो लोभमें मत पड़ना। देवता वरदान देने आये तो बोलना नहीं।

किसी महात्माकी बात सुनकर एक जप करने लगे तो दूसरेकी बात सुनी दूसरा जपने लगे। 'नमो नारायण'से कोई लाभ न जान पड़ा तो 'नमः शिवाय' जपने लगे—यह सर्वथा वर्जित है। अपने साधन, अपने मन्त्रमें ऐसी दृढ़ता और स्थिरता चाहिए, जैसी हिमालयमें है। गरम स्थिरता नहीं, शीतल स्थिरता चाहिए। किसीपर चिढ़ो मत, किन्तु स्थिर रहो।

निरस्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः।

पत्थरकी चट्टानके समान निःसंकल्प, निर्विकल्प स्थिति हो।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः। —कालिदास

भारतवर्षके उत्तरमें देवतात्मा पर्वताधिराज हिमालय स्थित है। उत्तर—ऊपरकी ओर। आपके सिरमें सूर्यदैवत नेत्र हैं, वरुण-दैवत जिह्वा है, अश्विनी-दैवत नासिका है, दिग्-दैवत कर्ण हैं। इनके ऊपर ब्रह्मा, विष्णु, शिवका स्थान है। आध्यात्मिक रूपमें-व्यष्टिमें यह आपका शिरोभाग हिमालय है। अतः किसी इन्द्रिय द्वारा चेष्टा या मन द्वारा संकल्प मत करो। हिमालय जैसे स्थिर बैठ जाओ। इस स्थिरतामें ही परमात्मा है।

× × ×

उपसंहार

दसवें अध्यायके अन्तमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

'अर्जुन ! अथवा इस बहुत कुछ विस्तारसे जाननेका तुम्हें प्रयोजन भी क्या है ? मैं अपने एक अंशसे ही सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो रहा हूँ।

नानुध्यायेद् बहुन् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

बहुत शब्दोंका ध्यान न करे; क्योंकि वह तो वाणीका अपव्यय है, जब अर्थको पहचान लिया तो शब्दाडम्बरको लेकर क्या करना है ? हीरा मिल गया तो सन्दूकके लिए क्या विवाद ? विक्रीते करिणि किमङ्कुशे विवादः—हाथी बेच दिया तो अंकुशके लिए क्या झगड़ा ?

सम्पूर्ण जगत्में—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधिमें एक परमात्मा ही परिपूर्ण है।

●